॥ ओ३म् ॥

वियोग वेदना

लेखक :

प्रा० भद्रसेन आचार्य

होशियारपुर (पंजाब)

प्रकाशक:—

हरयाणा साहित्य संस्थान

गुरुकुल झज्जर (रोहतक)

प्रथम संस्करण २०३८ वि० मूल्य १-५०

"कूच का डंका बजने से पहले"

नेकी के कर्म कमाजा रे, दुनियाँ से जानेवाले ।
प्रभु के दर्शन पाजा रे, दुनियां से जानेवाले ।। टेक

१ यह तन तेरा तरुवर है, नेकी एक क्षीरसागर है ।
इस तरुवर के फल खाजा रे, दुनियाँ से जानेबाले ।।......

२ यह धन यौवन संसारी, है दो दिन की फुलवारी,
कोई खुश रंग फूल खिलाजा रे, दुनियां से जानेवाले ।।

३ तुझ से धन अन्त छुटेगा, जाने किस राह लुटेगा ।
इसे परहित हेत लगाजा रे, दुनियां से जानेवाले ।।

४ जग-सेवा है सुख-देवा, कर दीन दुःखी की सेवा ।
यश पाना है तो पा जा रे, दुनियाँ से जानेवाले ।।

५ यह कञ्चन काया तेरी, हो अन्त राख की ढ़ेरी ।
इससे जो बने बना जा रे, दुनियां से जानेवाले ।।

६ यज्ञ एक कल्प-तरु है, ऋषिवर ही तेरा गुरु है ।
मनचाहा फल पा जा रे, दुनियाँ से जानेवाले ।।

—महर्षि का एक वीर सैनिक
गुरुकुल झज्जर (रोहतक)

आचार्य धर्मेश्वर आर्य
आर्यवीर दल मुम्बई
- 9029421718.

वियोग की वेदना

आज जिस जीवन को हम बिता रहे हैं, उसके रहस्य को समझने के लिए जहां खान-पान, रहन-सहन, परस्पर बर्ताव, बोल-चाल के राज को जानना बहुत जरूरी है वहां अकस्मात् घटने वाली इस मृत्यु की घटना और विवेचना को भी जानना अत्यावश्यक है। क्योंकि हमारा जीवन इन्हीं पर निर्भर है। अन्यथा गौतम बुद्ध या बालक मूलशंकर की तरह एकदम पासा पलट सकता है अथवा एकदम घबरा जाने के कारण अप्रत्याशित भी घट सकता है। तभी तो अनेक घबरा कर अपनी मौत आप बुला बैठते हैं।

आज विज्ञान ने जहां अपनी अनेक उपलब्धियों से मानव समाज का जीवन सुख-सुविधाओं से भर दिया है, वहां विज्ञान द्वारा बनाए गये यन्त्रों और यानों की आये दिन होने वाली दुर्घटनाओं से मौत खिलौना बनकर रह गई है। तभी तो आकाशवाणी और समाचार-पत्रों से आये दिन इसके समाचार सामने आ रहे हैं। इसके साथ ही दैविक प्रकोप, पारस्परिक क्लेश, द्वेष, स्वार्थ एवं बदले की भावना के कारण भी अनेक मौतें होती रहती हैं।

इन दुर्घटनाजन्य और महामारियों द्वारा होने वाली मौतों से सिद्ध होता है कि किसी की मृत्यु केवल भगवान् की व्यवस्था के अनुसार स्वाभाविक ही नहीं होती। अपितु वह अपनी या दूसरों की गलतियों के कारण भी हो जाती है। अतः केवल भाग्य का खेल समझ करके ही आज दिल को सन्तोष देना 'बिल्ली को

देखकर कबूतर के आंख बन्द करने' के ही समान है। इसलिए मृत्यु और तज्जन्य वियोग के सम्बन्ध में कुछ विशेष विचारना एवं जानना बहुत जरूरी हो जाता है।

हम भारतीय अपने प्रिय वेद[1], उपनिषद्[2], गीता[3] आदि शास्त्रों और अपनी भावना के अनुसार आत्मा को नित्य मानते हैं, क्योंकि हम सब को नित्य आत्मा को न तो किसी प्रकार का कोई हथियार काट सकता है, न ही अग्नि जला सकती है, न जल गला सकता है और न ही वायु सुखा सकता है अर्थात् हमारी आत्मा अजर-अमर है। यह न कभी पैदा होती या मरती है, यह सदा एकरस रहती है, न जाने यह कितने अनन्त समय से चली आ रही है। यह शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती।

1- अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येन सयोनिः।

ऋ० १, १६४, ३८, अ० ९, १०, १६।

अमरणशील आत्मा कर्मानुसार विविध योनियों में जाता है।

वायुरनिलममृतम् यजु० ४०, १५ = जीवात्मा वायु की तरह गतिशील और भौतिक विकारों = सड़ना, गलना, कटना, सूखना से रहित है।

2- न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

कठ १, २, २४॥

3- नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२, २३॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः॥२, १८॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२०॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२, २४॥

श्वेताश्वतर उपनिषद्[1] में स्पष्ट संकेत किया गया है कि जीव अत्यन्त सूक्ष्म और सदा रहने वाला है। वह न स्त्री रूप में है, न ही पुरुष या नपुंसक है। वह जैसे शरीर को धारण करता है, वह वैसा ही कहलाने लगता है। कर्मानुसार यह अनेक प्रकार के स्थूल-सूक्ष्म शरीरों को धारण करता है।

आत्मा के अजर-अमर-नित्य होने से ही कर्मफल की व्यवस्था बन सकती है और तभी वह पूर्व शरीरों में किए गये कर्मों के फल भोगने में समर्थ होता है। क्योंकि इस जन्म में किए हुए सम्पूर्ण कर्मों के फल इसी जन्म में प्राप्त होते हुये दिखाई नहीं देते। अतः इस जन्म के साथ आगामी जन्म की व्यवस्था को मानना आवश्यक हो जाता है तथा इस समय को विभिन्न सांसारिक विषमताओं को देखने से अनुमान किया जा सकता है कि इस समय के विविध भेद केवल सामयिक परिश्रम के कारण ही नहीं हैं अपितु पिछले जन्मों के कर्मों के परिणाम स्वरूप भी हैं। अतः मृत्यु के बाद पांच-भौतिक देह जब नष्ट हो जाती है, तब जीवात्मा नाम की नित्य, अविनाशी वस्तु ही स्वकर्मानुसार दूसरे शरीर को यथासमय धारण करती है। इसी नित्य आत्मा की विद्यमानता से शरीर

---

1. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥५, ९॥
नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते ॥१०॥
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही ।
स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ॥११॥
स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव ।
रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ॥१२॥

अपने व्यापार पूर्ण करने में समर्थ होता है, तथा इसी की सत्ता-असत्ता से जीवित और मृतक में भेद होता है।

आत्मा जब अजर-अमर है, तो ऐसी स्थिति में प्रश्न पैदा होता है कि हम तब किसी की मृत्यु पर शोक क्यों करते हैं? आत्मा की अमरता और मृत्यु का आपस में क्या मेल? आत्मा को नित्य मानने पर रोने का क्या प्रसंग? भारतीयों की इस स्थिति को देखकर ही एक विचारक ने लिखा है, कि किसी की मृत्यु पर बिलख-बिलख कर रोते हुये भारतीयों को देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। क्योंकि भारतीय जितना अधिक आत्मा की अमरता पर विश्वास करते हैं, उतना ही अधिक वे किसी की मौत पर शोक प्रकट करते हैं। एक ओर तो आत्मा को अमर मानना, दूसरी ओर किसी की मृत्यु के समय अमर आत्मा के प्रति ऐसा करुणाक्रन्दन। दोनों का मेल कुछ अद्भुत सी बात है। कहां अमरता और कहां मृत्यु शोक?

मृत्यु की परिभाषा—

वियोग विछोह का अर्थ है, किसी का किसी से अलग होना। यही भाव मृत्यु शब्द का भी है। मृत्यु शब्द √मृङ् प्राणत्यागे= [प्राणों का छूटना, निकलना] धातु से बनता है। जिसका भाव है चेतन आत्मा का अपने कर्मों के अनुसार परमात्मा की व्यवस्था से प्राप्त किये हुए पहले शरीर, इन्द्रिय और मन से अलग होना। सीप से मोती के निकल जाने पर जैसे वह सीप बे-कीमत की होकर रह जाती है, वैसे ही इस नित्य आत्मा के शरीर से निकलते ही यह शरीर मिट्टी का ढेर ही होकर रह जाता है और तब यह शीघ्र ही सड़ना शुरु हो जाता है।

मृत्यु शब्द पर विचार करते हुए ही शब्दों में छिपे रहस्य को खोलने में कुशल निरुक्तकार महर्षि यास्क ने लिखा है, कि

"मारयतीति सतः' ११, ६=मारती है अर्थात् पहले से प्राप्त शरीर, इन्द्रिय और मन से नित्य आत्मा को अलग करती है और इसके साथ ही 'मृतं च्यावयति' ११, ६ अर्थात् पूर्वप्राप्त शरीर आदि से अलग हुये इस अजर-अमर आत्मा को ले जाती है और तब उसे स्वकर्मानुसार एक नये शरीर को धारण का अवसर प्राप्त कराती है। क्योंकि तब यह आत्मा जीर्ण-शीर्ण विविध चिन्ताग्रस्त होकर कलेवर से मुक्त होकर लाड चावों से भरे नये निश्चिन्त बाल जीवन को प्राप्त करने में सक्षम होता है। तभी तो गीताकार ने कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि
अन्यानि संयाति नवानि देही ॥२, २२॥

जैसे कोई जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को फेंककर दूसरे अच्छे वस्त्रों को ग्रहण करता है तथैव यह अजर-अमर आत्मा जीवन यात्रा में कर्तव्य कर्मों के करने में अक्षम देह को छोड़कर आशा भरे नये देह को धारण करता है।

इसी भाव को अंग्रेजी भाषा के कवि लांग फैलो ने इस रूप में व्यक्त किया है—"मृत्यु—मृत्यु (सर्वनाश) नहीं है, जैसी कि हमें दीखती है। वह तो जीवन का परिवर्तन है। थोड़े दिनों का हमारा यह जीवन, उस दिव्य जीवन का बाह्य भाग है। जिस के प्रवेश द्वार को हम मृत्यु कहते हैं।" अतः चोला बदलने का नाम या अन्तराल ही मृत्यु है।

"निर्भय स्वागत करो मृत्यु का,
मृत्यु एक है विश्राम-स्थल।

जीव जहां से चलता है,
धारण कर नव जीवन सम्बल ।
मृत्यु एक सरिता है, जिसमें,
श्रम से कातर जीव नहा कर ।
फिर नूतन धारण करता है,
काया पूर्व बहा कर ॥"

शोक और धैर्य—

अपने प्रिय परिजनों का विछोह होने पर हृदय में शोक, दुःख का उमड़ना स्वभाविक ही है । क्योंकि हमारा जीवन बहुत अंशों में सामाजिक सम्बन्धों तथा उन से प्राप्य सहयोग पर आधारित है । इन सामाजिक रिश्तों और सहयोग के बिना जीवन [व्यवहार] की कल्पना करना भी कठिन है । अतः परिवार में किसी विशेष के अकस्मात् बिछुड़ जाने पर आश्रितों का जीवन भी अन्धकारमय एवं धूमिल हो जाता है । इसी भावना का कुछ अंश सतीप्रथा के प्रचलित होने में एक कारण कहा जा सकता है । यतो हि भारतीय भावना के अनुसार पत्नी के लिए पति ही सर्वस्व तथा जीवनाधार होता है । यदि किसी कारण से पति का पत्नी से पूर्व देहान्त हो जाए तो पत्नी की दुनियां भी उसी के साथ उजड़ जाती है । विधवाओं के साथ सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में जो दुर्व्यवहार पहले होता था, वह इस का जीता जागता प्रमाण कहा जा सकता है । पुराने विचारों वालों के यहां आज भी कभी कभार इसके उदाहरण सामने आ जाते हैं । कुछ अंशों में वैधव्य जीवन के अपमान, दुःखों को स्मरण करके पत्नी को जीने की अपेक्षा मरना अधिक सरल अनुभव होता है । इस स्थिति को स्पष्ट करने वाले अनेक उदाहरण भारतीय इतिहास में मिलते हैं ।

भारतीय समाज में इस अवसर पर प्रचलित रोने के विशेष रिवाज तथा इस अवसर पर वृद्ध अवस्था में भी पत्नी को दिये जाने वाले तानें, व्यंग्य विशेष चिन्तनीय बात है। ऐसी विषम परिस्थितियों में भी कुछ भारतीय वीरांगनाओं ने जिस बुद्धिमत्ता और धैर्य का परिचय दिया वह वस्तुतः इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में अंकित करने वाली बात है। ऐसी एक स्मरणीय घटना यहां प्रस्तुत करना अत्यन्त उपयुक्त होगा। जिससे इस अवसर पर रोने के कुछ विचित्र रूप को लिए हुये रिवाज का परिणाम हमारे सामने आता है। स्वा० सत्यदेव जी परिव्राजक ने भी अपनी आंखों की कमजोरी का कारण इसी रिवाज को बताया है, क्योंकि उनकी माता जी को एक ऐसे ही रिवाज में सम्मिलित होना पड़ा जबकि ये गर्भ में थे। रोने के रिवाज का यह विशेष बढा हुआ रूप पारिवारिक जीवन और बच्चों के पालन-पोषण की दृष्टि से विशेष सोचने वाली बात है। अब इस में कुछ परिवर्तन आ रहा है।

पिताजी[1] ने एक बार बताया कि मैं कम से कम ऐसे सौ व्यक्तियों का साक्षात्कार करना चाहता हूँ, जिन्होंने सौ वर्ष की आयु पूर्ण करली है। ऐसे दीर्घजीवियों के दर्शन करके यह जानना चाहता हूं, कि उनकी दृष्टि से सफल जीवन और लम्बी उम्र का क्या रहस्य है? तथा विषम से विषम परिस्थितियों में से उन्होंने अपनी जीवन नौका को कैसे पार लगाया। अभी तक वे जितने भी व्यक्तियों से मिले हैं उन सब के जीवन में सादा जीवन, शुद्ध आहार-विहार और शारीरिक श्रम का विशेष स्थान था और है। दीर्घजीवियों में से जिसके सब से प्रथम दर्शन करने का अवसर उनको प्राप्त हुआ, वह एक 105 वर्ष की कर्मठ महिला थी।

१- श्रीराम तीर्थ जी घरौण्डा (करनाल-हरियाणा)

अपनी जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए पिताजी ने इस महिला से कुछ प्रश्न पूछे। जिनमें एक यह भी था, कि आपके इस लम्बे जीवन में कोई विशेष दुःखद घटना तो नहीं घटी? उस महान् महिला ने अपनी करुण कहानी को बताते हुए कहा, कि मेरे जीवन में जो विशेष दुर्घटनायें घटी हैं, प्रभु से प्रार्थना है कि वे किसी के भी जीवन में न घटें।

अभी मेरी आयु तीस वर्ष के आस-पास ही हुई थी, कि मुझ पर एकदम पहाड़ आ गिरा और मेरा सौहाग मुझ से छिन गया। भारतीय नारी के लिए इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है? और वह भी युवावस्था में। जब मेरी सारी दुनियां लुट गई तो मैं दिनभर दहाड़ें मार-मारकर, छाती, सिर पीट-पीटकर रोई। क्योंकि मुझे तब चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दीख रहा था। उस पर इधर-उधर से दिए जाने वाले तानें - व्यंग्य जलती आग पर घी का काम कर रहे थे। मैं जैसे-कैसे अपनी जिंदा लाश को ढो रही थी, कि एक रात को थोड़ी देर बाद अचानक मेरी नींद खुल गई और विचार उपजा—अब रोने से वे तो लौटकर नहीं आयेंगे? फिर रो-रो कर तू अपने आपको बेहाल क्यों कर रही है? कुछ धैर्य कर, इस तरह अपने आपको अव्यवस्थित कर लेने से, धैर्य छोड़ देने से इन बच्चों का क्या बनेगा? जिनकी अब सारी जिम्मेवारी तुझ अकेली के कन्धों पर आगई है। अब तो तुझ अकेली को ही दोनों के कर्तव्य इन के प्रति पूर्ण करने होंगे। क्या उनकी याद में बेचैन होकर उनकी इस अनमोल धरोहर के प्रति अधिक सजग होने की अपेक्षा केवल अपने आपको मुख्यता देगी। तुझे अब इनके लिए जीना है, इन के प्रति दोनों के कर्तव्यों को एक साथ निभाना है। इन विचारों ने मेरे सामने जीवन का एक नया रूप ला दिया।

प्रातः उठी, रात को अकस्मात् उभरे विचारों ने मेरे लिए कर्तव्य पथ निश्चित कर दिया था, पर जग दिखाई के लिए इस रिवाज को हर स्थिति में पूर्ण करना था। पर दिल बार-बार सचेत कर रहा था, कि अपने कर्तव्य को कहीं भूल न जाना। समय बीतता गया और जैसे-कैसे मेहनत करके धरोहर के प्रति कर्तव्य निभाने के लिए मैं जुट गई। इस कर्तव्यपरायणता तथा समय ने धीरे-धीरे उस घाव को कुछ मन्द कर दिया। पर भविष्य को पूरी तरह से किस ने जाना है।

बड़ा बेटा जब कुछ पढ़कर मेरा हाथ बंटाने के योग्य हुआ और मैंने सोचा चलो इतनी साधना के बाद ही जैसे-कैसे मेरे काले बादल कुछ तो दूर हुये। मेरी आशाओं का सहारा, आंखों का तारा, हृदय कमल का वह सूर्य भी अकस्मात् एक दिन मुझे छोड़ गया। उस के मृत देह को देखकर मैं अपने रहे सहे धैर्य को खो बैठी। अब तो मुझे पूरी तरह से चारों ओर अन्धेरा ही अन्धेरा दिखाई देने लगा। यह दूसरी (दूहरी) मार अब न सही जाती थी। वह एक और एक दो न बनकर अपितु ११ ग्यारह बनकर बेचैन करने लगी। इस विह्वलता की स्थिति में रो-रो कर मैंने अपना बेहाल कर लिया। सब मुझे रोने मे रोकते, धैर्य देते, पर मुझे दुनियां के सारे आश्वासन तथा सारी बातें बिलकुल बेकार प्रतीत होने लगीं। मैं बार-बार भगवान् से सिर पटक-पटक कर मौत मांगने लगी। इस बेचैनी के साथ पहली याद पुनः अत्यधिक रूप में ताजा होगई और मुझे अब सब कुछ निःसार लगने लगा।

इस विह्वलता में पहली दो रात तो थोड़ी सी भी नींद न आई। पर अगली रात रोदन के श्रम, थकावट और पिछली रातों में नींद न आने के कारण शरीर चूर-चूर होगया और मुझे नींद आगई। आधी रात को अकस्मात् मेरी नींद खुली, तब फिर मेरे

मन में विचार उभरा, तूने तो पूरी तरह से धैर्य खो दिया। क्या तेरे इस रोने-धोने से वह लौट आयेगा? अभी तो तेरे पास अपने प्रियतम की दो और भी अमानतें हैं? क्या उनके लिए तेरा कोई कर्तव्य नहीं? क्या इस तरह तू उनको इस दुनियां में ऐसे ही बेसहारा छोड़ जाएगी? वे किस के सहारे पनपेंगे। अपने लिए नहीं तो कम से कम इनके लिए तुझे जैसे-कैसे जीना चाहिए।

इन विचारों ने एकदम पासा ही पलट दिया। रिवाजों को पूरा करते हुए जैसे-कैसे उन क्रियाओं को पूर्ण किया। मन में बार-बार कौंधने वाले विचारों से प्रेरित होकर पुनः धैर्य जुटा, मैं जी-जान से उस धरोहर के विकास के लिए जुट गई। ये पहाड़ जैसी परीक्षायें, दुःख के बादल जैसे-कैसे मैंने पार किए पर मुझे आज इन बच्चों के विकास को देखकर अपनी पूर्व स्थिति पर कुछ सन्तोष होता है। यह ठीक है कि मैं आज भी उन घावों को अपने हृदय में समेटे हुये हूं, किसी भी प्रकार उनको भुला नहीं पाती, पुनरपि परिवार की यह प्रगति अब मुझे उतना बेचैन नहीं करती। **धैर्य का सहारा और कर्तव्य की भावना मेरे जीवन को यहां तक पहुंचाने में समर्थ हो सकी हैं।**

अपने प्रियजनों के वियोग पर शोक होना स्वाभाविक है, क्योंकि हमारा जीवन आपस के सम्बन्धों और सहयोग पर निर्भर होता है, तथा इसके साथ आपस की लम्बी मधुर स्मृतियां जुड़ी होती हैं। चाहे ये स्मृतियां कितनी ही तीव्र हों और उनके कारण शोक की विह्वलता कितनी भी प्रचण्ड हो, फिर भी इस परिस्थिति में **धैर्य ही एक सहारा है**। इसके बिना अब और कोई चारा भी नहीं।

चाहे—तुम अब आ नहीं सकते,
तुम्हें अब हम पा नहीं सकते।

पुनरपि—

तू नहीं लेकिन तेरी उल्फत अभी तक दिल में है।
बुझ चुकी है शमा, फिर भी रोशनी महफिल में है।
जो भुलाए नहीं भूलती, तभी तो कहा है—
दामन तो तेरा हाथ से जाता रहा।
मगर एक रिश्ता ख्याल है, जो टूटता नहीं।

मृत्यु के सम्बन्ध में कुछ ऐसी वास्तविक स्थिति के होने पर पर भी हम अपने मोह एवं स्वार्थवश अपने प्रियजनों के वियोग को दूसरे रूप में लेते हैं और तब वह वियोग हमें विकल, अधीर, बेचैन, निराश, हताश कर देता है, क्योंकि लम्बे समय तक हमने उनसे अनेकविध सुख सुविधायें, स्नेह, सहयोग प्राप्त किया होता है। उन मीठी यादों को एकदम भुलाना कठिन होता है। उस स्थिति में हमें सर्वत्र अन्धेरा ही अन्धेरा दिखाई देता है और तब अनेकों को अपना जीवन ही बेकार या अधूरा अनुभव होने लगता है[1]।

---

1. निराधारं धैर्यं, कमिव शरणं यातु विनयः ?
क्षमः क्षान्तिं वोढुं क इह, विरता दानपरता
हतं सत्यं सत्यं, व्रजतु कृपणा क्वाद्य करुणा ?
जगत् जातं शून्यं त्वयि तनय लोकान्तरगते ॥ नागानन्द ५, ३१॥

प्रिय वत्स ! तेरे बिछुड़ जाने पर यह सारा संसार अब मुझे डरावना बेकार, अन्धकारमय और दुःखों का घर ही लगता है। तेरे न होने से अब मैं किसको देखकर धैर्य धारण करूंगा, किस के प्रति स्नेह व्यक्त करूं ? किस की ढिठाई पर क्षमा दिखाऊंगा, किस के लिए सब कुछ देकर त्याग सीखूंगा और किस पर अपनी दया व्यक्त करूं ? "वात्सल्य नाम का जो पुनीत स्नेह है, उसी का पोषण जो पुत्र द्वारा होता है। संसारी को त्याग, तितिक्षा या विराग होने के लिए पहला और सरल साधन पुत्र ही होता है। पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग हो जाने से असन्तोष नहीं होता। क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भोग उसे भी समझता है।"

अजातशत्रु पृ० ३५

उस समय रो-रोकर अनेक अपना बुरा हाल कर लेते हैं और कुछ इतने हताश हो जाते हैं, कि वे जीना ही नहीं चाहते और तब अपनी ही जान दे डालते हैं। जिसके अनेक समाचार समाचार-पत्रों में पढ़ने और सुनने में प्रायः आते रहते हैं। इस प्रकार मरण से हम कुछ इतना घबराते हैं कि विविध प्रकार से कल्पित अमरत्व की अनेक कल्पनायें करते हैं तथा उसकी प्राप्ति के लिए अनेक तरह के धार्मिक कर्मकाण्डों का आश्रय लेते हैं और इस प्रकार के कल्पित अमरत्व में भी सान्त्वना अनुभव करते हैं। इसीलिए ही मृत्यु के डर को योगदर्शनकार पतञ्जलि मुनि ने अभिनिवेश के नाम से स्मरण किया है।

आत्मा की अजरता-अमरता की विद्यमानता में भी रुदन, शोक एवं वियोग दुःख की अनुभूति के कारण को समझने के लिए पहले पारस्परिक सम्बन्धों के सम्बन्ध में कुछ विचार करना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है।

पारस्परिक सम्बन्धों का आधार—

हमारे ये सांसारिक सम्बन्ध क्या आत्मा से हैं या विनाशशील शरीर से हैं? यदि आत्मा से हैं तो आत्माओं के नित्य होने से नित्य होने चाहियें। यदि शरीर से हैं तो उसके नाशवान् होने से स्वतः

---

1. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः २, ९=सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति, मा न भुवम् भूयासमिति।......स चायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैः असम्भावितो मरणत्रासः......। यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः। (व्यासभाष्यम्)

हर एक की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि मैं सदा ही रहूं, किसी भी ढंग से मेरे पास मौत न आए।

अनित्य सिद्ध हो जाते हैं। इस दृष्टि से जब हम इस समस्या पर विचार करते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे पारस्परिक सम्बन्ध नित्य आत्मा से नहीं हैं। यदि उस से होते तो ये सम्बन्ध नित्य होते, क्योंकि आत्मा अमर है। तब तो जिसका जिससे जैसा जो सम्बन्ध है, वह उसके साथ सदा उसी रूप में ही होता। परन्तु शास्त्रों के प्रमाणों और पूर्वजन्म की सामने आने वाली घटनाओं से यह अवगत होता है, कि ये सम्बन्ध बदलते रहते हैं। तभी तो निरुक्तकार ने कहा है कि न जाने मैंने विविध योनियों में कितने माता-पिताओं के दर्शन किए हैं[1]। नित्य सम्बन्ध मानने पर तो किसी का कभी भी मोक्ष सिद्ध ही न हो सकेगा। क्योंकि संसार में रहते हुए ही कोई पारस्परिक सम्बन्धों को निभा सकता है। नित्य सम्बन्ध मानने से जीव की स्वतन्त्रकर्तृता पर भी आंच आती है कि वह किसी भी (मैत्री, विवाह) सम्बन्ध को स्वेच्छा से नहीं कर सकता और तब ऋ १०, २७, १२ जैसे वाक्यों द्वारा प्रतिपादित स्वयं वरण का अवसर सिद्ध न हो सकेगा[2]।

इस सम्बन्ध में दूसरी विचारणीय बात यह है कि यदि एक आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ आत्मिक सम्बन्ध है तो सभी आत्माओं के एक जैसा होने से एक की मृत्यु पर सभी एक समान

1- मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै॥
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥१३, १॥
नानायोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया।
आहारा विविधा भुक्ताः पीताश्च विविधाः स्तनाः॥ गर्भोपनिषद् ॥४॥

2- भद्रा वधूर्भवति स्वयं सा वनुते जने चित् (ऋग्वेद)

वियोग का दुःख अनुभव करें, परन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। वियोग दुःख की अनुभूति का प्रभाव केवल पारिवारिकों तथा परिचितों तक ही देखा जाता है और वह भी क्रमशः निकटता के आधार से। हम प्रतिदिन दुनियां में देखते हैं, कि जब कुछ वियोग के दुःख में असह्य वेदना अनुभव कर रहे होते हैं तो कुछ उसी समय खुशी भी मना रहे होते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि हमारे ये सम्बन्ध आत्मा से नहीं हैं[1]।

तो क्या ये सम्बन्ध शरीरों से हैं? जब हम इस पहलू पर विचार करते हैं तो यह दृष्टिकोण और भी अधिक बे-बुनियाद दिखाई देता है। क्योंकि यदि शरीरों से हमारे पारस्परिक सम्बन्ध होते तो फिर कोई उनको न जलाता, अपितु उनको जैसे-कैसे सम्भाल कर रखते। मरने पर तथा मृतक देह, को सम्भाल कर रखने पर भी उससे हमारा पारस्परिक सम्बन्ध का कोई भी व्यवहार न होने से यही सिद्ध होता है कि शरीर से हमारा पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है।

मृतक देह की सम्भाल के अनुपयोगी होने के कारण ही निकट से निकट सम्बन्धी भी कहने के लिए विवश हो जाते हैं— जल्दी करो, अब तो यह सड़ने लग पड़ा है। इसलिए ही शास्त्र[2] मृतक शरीर को जलाने का विधान करते हैं, और इसको एक पुण्य का कार्य बताते हैं।

1- अतः पति-पत्नी के सम्बन्ध को जन्म-जन्मान्तर का या नित्य सम्बन्ध मानकर सती प्रथा का समर्थन तथा विधुर-विधवा विवाह का निषेध करना अनुपयुक्त है।

2- एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यं हरन्ति। एतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधाति। (बृहदारण्यक उपनिषद् ५, १२, १) भस्मान्तं शरीरम्

जबकि हमारा पारस्परिक सम्बन्ध न आत्मा से है और न शरीरों से तो विवेकशील प्राणी होने के नाते यह और भी अधिक गहराई से सोचना आवश्यक हो जाता है कि हमारा पारस्परिक सम्बन्धों का आधार क्या है।

जब हम इस पर खुले मन से विचार करते हैं तो इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि इस रहस्य को समझने के लिए प्रथम जन्म और मृत्यु के रूप को जानना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि जन्म के साथ ही पारस्परिक सम्बन्ध प्रकाश में आते हैं। न्यायदर्शन के प्राचीनतम भाष्यकार महर्षि वात्स्यायन का १, १, १९ सूत्र पर किया गया भाष्य[1] यह स्पष्ट संकेत देता है कि नित्य आत्मा के

यजु० ४०, १५ = शरीर का अन्त, परिणाम, राख, नाश, मिट्टी ही है। जिस किसी अग्नि से उस शरीर को भस्म करना चाहिए। अतः लकड़ियों की आग की तरह विद्युदग्नि का भी प्रयोग करना चाहिए। जनसंख्या की वृद्धि के कारण उभरती हुई भूमि समस्या की भी यही मांग है कि शवों को जलाया जाए तथा दबाने की अपेक्षा जलाना अधिक वैज्ञानिक है। लकड़ी की बढ़ती कीमतें और कमी तथा उसके अन्यत्र प्रयोग संकेत करते हैं कि बिजली का प्रयोग शवदाहन के लिए बिना झिझक करने पर विचार किया जाए।

1- पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः १, १, १९—उत्पन्नस्य क्वचित्सत्त्वनिकाये मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः स प्रेत्यभावः। उत्पन्नस्य सम्बद्धस्य। सम्बन्धस्तु देहेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिः पुनरुत्पत्तिः पुनर्देहादिभिः सम्बन्धः। पुनरित्यभ्यासाभिधानं यत्र क्वचित् प्राणभृन्निकाये वर्तमानः पूर्वोपात्तान्देहादीन् जहाति तत्प्रैति। यत्र तत्रान्यत्र वा देहादीनन्यानुपादत्ते तद्भवति। प्रेत्यभावो मृत्वा पुनर्जन्म, सोऽयं जन्ममरणप्रबन्धाभ्यासोऽनादिरपवर्गान्तः प्रेत्यभावो वेदितव्यः।

किसी शरीर, इन्द्रियों और मन आदि से जुड़ने का नाम जन्म और अमर आत्मा का पूर्व प्राप्त शरीर आदि से अलग होना ही मृत्यु है। तभी तो कहते हैं—

अपने गृह को चला यह,
नाते रिश्ते तोड़ चला यह,
सबसे मुख मोड़ चला यह।

अर्थात् आत्मा और शरीरादि के **पारस्परिक सम्बन्ध और असम्बन्ध** का नाम ही जन्म-मृत्यु है। इसी जन्म-मरण की अजीब पहेली और शरीर-आत्मा के सम्बन्ध को समझाने का ही प्रयास कठ उपनिषद् के तीसरे प्रश्न या वर में किया गया है। इसीलिए वहां आचार्य यम नचीकेता को बार-बार "एतद्वैतत्···" शब्दों द्वारा इस समस्या का समाधान सुझाते हुए प्रतीत होते हैं[1]।

वस्तुत: आत्मा और शरीरादि के सम्बन्ध[2] से ही हमारे पारस्परिक सम्बन्ध हैं। क्योंकि जब तक शरीर तथा आत्मा का सम्बन्ध रहता

1- इसको विस्तार से जानने के लिए देखिए—'परिषद् पत्रिका' (पटना) के अप्रेल 1975 के अंक में 'कठोपनिषद् का एक अध्ययन'।

2- आज जिस स्थिति में हम हैं, उसमें हम अपनी इन्द्रियों से चीजों को व्यवहार में लाते हैं, भोगते हैं। अतः हमारा स्वरूप भोक्ता के रूप में है। कठ उपनिषद् के ऋषि ने तभी तो कहा था—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' १, ३, ४ आत्मा, इन्द्रिय और मन के मेल से ही भोक्तापन बनता है। यही बात चरककार ने इन शब्दों में व्यक्त की है—शरीरेन्द्रियसत्त्व(= मनः) आत्मसंयोगः (चरक सूत्र० १, ४२) सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्। लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्।४६। विस्तार के लिए देखिए—"सुखी कैसे रहे ?" का 'मैं कौन हूं' प्रकरण।

है, तभी तक उस सम्बन्ध से हमारे वे-वे सम्बन्ध जुड़े रहते हैं। इन दोनों के आपसी सम्बन्ध के टूट जाने पर उस सम्बन्ध से सम्बन्धितों के सम्बन्ध भी तब स्वतः टूट जाते हैं। अतः हमारे पारस्परिक विविध सम्बन्धों का न तो शरीर से सम्बन्ध है और न ही आत्मा से, अपितु इन दोनों के सम्बन्धमात्र से ही हमारा सम्बन्ध है और इन दोनों के सम्बन्ध के टूट जाने पर सारे सांसारिक सम्बन्ध भी तब स्वतः टूट जाते हैं।

सम्भवतः इसी रहस्य को समझाने के लिए कभी यह रिवाज चला होगा। जो कि अब केवल लकीर बनकर रह गया है, क्योंकि उसके भाव पर किसी का ध्यान नहीं है। अधिकतर लोग जब किसी मृतक देह को श्मशान (शरीर जिसमें सोते हैं) भूमि में ले जाते हैं, तो रास्ते में एक निश्चित स्थान पर उस मृतक देह को रखते हैं। तब मृतक का (ज्येष्ठ) पुत्र स्वयं या घर के निकटवर्ती रिश्तेदार द्वारा लाए जाते हुये जल से भरे घड़े को लेकर मृतक के चारों ओर जल को छिड़क कर मृतक के सिर के पास जोर से घट को पटक देता है। सम्भवतः जिसका अभिप्राय यह है कि जब तक घट के टुकड़े आपस में जुड़े हुए थे, तभी तक ही घट अपने सारे व्यवहार करता था। चाहे उसमें जल डालो या तेल, घी आदि कुछ भी डालो, वह उसको सम्भालता था। पर घट के हिस्सों के अलग-अलग होते ही घट से कोई भी व्यवहार नहीं होता। ठीक ऐसे ही जब तक शरीर और आत्मा का सम्बन्ध रहता है, तभी तक सारे सम्बन्ध जुड़े रहते हैं और उस सम्बन्ध के टूटते ही सभी सांसारिक सम्बन्ध तब स्वतः टूट जाते हैं। इसीलिए ही कुछ श्मशान भूमि से लौटते हुए एक स्थान पर बैठकर भूमि से तिनके तोड़ते हैं और तब तिनकों सहित खड़े होकर उन तिनकों

को तोड़कर अपने पीछे फेंक देते हैं। जिसका भाव यही है कि इस आत्मा और शरीर से हमारा सम्बन्ध टूट गया है।

परिवर्तनशील संसार—

मृत्यु विषयक इन सभी भावों को सामने रखते हुए ही वेद ने क्या ही मार्मिक भाव दर्शाए हैं—

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम्॥ यजु० १२, ७९॥

हे दुनियां वालो! जिस दुनियां में हम सब रह रहे हैं, हमारा यह दुनियांरूपी सहारा, मकान अश्वत्थ (पीपल) के समान चलायमान है। अश्वत्थ शब्द का शाब्दिक अर्थ है न+श्व+स्थ=जो कल नहीं रहेगा। अर्थात् जिसका कोई भरोसा नहीं, कि कल रहेगा या नहीं? इसका अभिप्राय यह हुआ कि दुनियां की जितनी भी चीजें हम अपने व्यवहार में प्रतिक्षण वर्तते हैं, वे सारी की सारी मकान, वस्त्र, बर्तन, फर्नीचर आदि सभी परिवर्तनशील हैं। उनमें सदा परिवर्तन आता रहता है और एक दिन वे आंखों से ओझल भी हो जाती हैं। अर्थात् हम चाहे इस परिवर्तन को पसन्द न करते हों और हर तरह से चाहते हों कि यह सब कुछ ऐसे ही रहे, पुनरपि व्यवहार में आने वाली ये चीजें सदा एक रूप में नहीं रहतीं, क्योंकि ये अनित्य हैं। अतः बनती और बिगड़ती रहती हैं। कुछ पदार्थ धीरे-धीरे क्षीण होते हैं और फिर एक दिन पूरी तरह से अदृश्य[1] हो जाते हैं, तो कुछ वस्तुयें अकस्मात् भूचाल, आगजनी, लड़ाई-झगड़े आदि के कारण एकदम नष्ट हो जाती हैं।

---

1. 'अदर्शनं लोपः' पाणिनीय १, १, ६० 'नाशः कारणलयः' सांख्यदर्शन १, १२१, √णश् (अदर्शने) अदृश्य, अदर्शन=न दिखाई देने का ही दूसरा नाम लोप हो जाना, नष्ट होना है। अतः नाश का दार्शनिक भाव है कार्यतत्त्वों का अपने कारण में समा जाना।

वेद के इन शब्दों का यह भाव नहीं है कि ऐसी स्थिति में हम दुनियां से उपराम हो जायें। अपितु वेद तो खुले शब्दों में "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः…" यजु० ४०, १ भोग का सन्देश दे रहा है। अर्थात् दुनियां और यहां की वस्तुओं, सम्बन्धों को झूठा समझ कर इन से नाक-भौं न सिकोड़ो, अपितु इनको बर्तो। हां बर्तने के लिए कुछ सूझ-बूझ की जरूरत है, क्योंकि जिसके साथ हमारा जिस प्रकार का जो सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध को उसी रूप में निभाने पर ही पारस्परिक तथा वैयक्तिक व्यवहार में पूर्णता आ सकती है। ये सम्बन्ध केवल व्यक्तियों से ही नहीं, अपितु वस्तुओं से भी अभिप्रेत है। तभी तो हिन्दीभाषा के प्रसिद्ध कवि श्रीधर पाठक जी ने "जगत् सचाई सार" नामक कविता में कहा है—

लगा हुआ है वस्तुमात्र का एक दूसरे से सम्बन्ध।
सब जीवों की भौतिक काया……………………॥
जीव से नाता छूट जाने पर इसी में वह मिल जाती है।
तुम से, पृथ्वी से, मिट्टी से है बस इतना ही सम्बन्ध।
काम तुम्हारे आती है, वह सुन्दर प्राकृतिक निबन्ध॥
जो तन मन से करता है श्रम, उचित रीति से चलता है।
सारी वसुधा का क्रम-क्रम से सर्वस उसको मिलता है॥
हाथ पैर और आंख कान बुद्धि से काम जो लेता है।
जीवन का सुख पाता है वह औरों को सुख देता है॥
पुत्र, कलत्र, मित्र बान्धव में, फैलाकर सच्चा आनन्द।
काम जगत् का करता है वह रहता है सुख से स्वच्छन्द॥

जहां वेद बर्तने का सन्देश देता है, वहां वह इसके साथ इतना जरूर कहता है कि इस दुनियां का भोग सोच-समझ के साथ करो। कहीं लोभ में आकर आम के गुद्दे के साथ छिलका और गुठली आदि अभक्ष्य न खा बैठो और केवल तुम्हारा ही सब

पर अधिकार नहीं है। तुम्हारे साथ और भी यहां रहते हैं। तुम अपने रहने, बर्तने के लिए मकान, वस्त्र आदि भोग्य पदार्थ अवश्य बनाओ। पर इन साथ न जाने वाले पदार्थों[1] को पाने के लिए हेरा-फेरी, बे-ईमानी, भ्रष्टाचार, मिलावट, स्मगलिंग द्वारा माल इकट्ठा करके दूसरों के खून, शोषण, अन्याय, अत्याचार से अपने हाथ न रंगो। क्योंकि यह सब कुछ यहीं का यहीं रखा रह जायेगा। तभी तो किसी कवि ने क्या ही सुन्दर कहा है—

इस धरा का धन धरा पर ही धरा रह जाएगा।
धन तो सच्चा धर्म है, जो काम अन्त में आएगा॥

संसार में हमें तो केवल सांसारिक चीजों को बर्तने का मौका मिला है। अतः हमारी तो होशियारी इस बात में है कि इनको बिगाड़े बिना ही हम इनका कितना अधिक से अधिक सुन्दर लाभ उठाते हैं। यदि इस अवसर का लाभ न उठाया तो फिर पछतावा ही हाथ लगेगा। जैसे कि कोई अपने पड़ोसी से बर्तने के लिए कोई चीज मांग कर लाता है। उसकी बुद्धिमत्ता इसी में है कि उतनी देर में अधिक से अधिक लाभ उठा ले। यदि किसी कारण से आपने मांगी हुई चीज को बर्ता नहीं और देने वाले को उसकी जरूरत पड़ गई तो वह मांगने आ पहुंचेगा। तब यह कहने से काम न चलेगा कि मैंने तो इसको अभी बर्ता नहीं। अब तो अवसर हाथ से निकल गया, गिड़गिड़ाने तथा हेरा-फेरी की अपेक्षा उस वस्तु को खुशी के साथ कृतज्ञतापूर्वक लौटाने में ही शोभा है।

1- इसीलिए ही धन को रेक्ण, रिक्थ (रेक्ण इति धन नाम, रिच्यते प्रयतः निरु० ३, १) तथा पुत्र को शेष (शेष इति अपत्यनाम, शिष्यते प्रयतः निरु० ३, १) कहते हैं, क्योंकि मरने वाले के ये यहीं रह जाते हैं अर्थात् साथ नहीं जाते। शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति मनु० ८, १७ में यही भाव दर्शाया है।

दुनियां वालो ! अपनी सुख-सुविधाओं के लिए इन चीजों को खुशी-खुशी इकट्ठा करो। पर ध्यान रखना ये साथ जाने वाली नहीं हैं। किसी राजे-महाराजे के साथ भी नहीं गई[1]। चाहे उन्होंने अपनी समझ के अनुसार अपनी व्यवहार की चीजें—आभूषण, जवाहरात ही नहीं, अपितु दासियों सहित अपनी सारी रानियों को भी अपने साथ कब्र में जिन्दा ही दबवाया हो। वे सारी यहीं की यहीं रह गईं। कोई चीज किसी के साथ नहीं गई। यही भाव किसी कवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—'सिकन्दर जब चला इस दुनियां से तो दोनों हाथ खाली थे।' पुनः इन नाशवान्, यहीं रहने वाली चीजों के लिए इतनी हेरा-फेरी, बे-ईमानी क्यों ? दुःख की बात तो यह है कि और क्षेत्रों की तो बात ही क्या ? आज तो हमने धर्म के क्षेत्र को भी व्यापार, भ्रष्टाचार का धन्धा और अड्डा बना दिया है। आज अधिकतर धर्म-कर्म दान-पुण्य पापों को छिपाने के लिए या दूसरों की आंखों में धूल फेंकने के लिए ही करते हैं। तभी तो नत्थासिंह ने लिखा है—वांटता है कम्बल, लोगों की चमड़ी उधेड़ के।

हम अपने प्रिय शास्त्रों के वाक्यों, गीतों (जिनमें यह सन्देश

1- मान्धाता स महीपतिः कृतयुगेऽलंकारभूतो गतः,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते,
नैकेनापि समं गता वसुमती मुञ्ज ! त्वया यास्यति ॥

संसार में एक के बाद एक करके अनेक राजा आए और चले गए पर धरती किसी के साथ नहीं गई। चाहे कुछ ने यह समझा या ऐसा लूट-खसूट का व्यवहार करके यह दर्शाया हो कि मेरे साथ यह अवश्य जाएगी।

है कि जो जैसे कर्म करता है उसको वैसा ही फल हर स्थिति में भोगना पड़ता है। किसी से छल-कपट और अन्याय का व्यवहार नहीं करना चाहिए। 'जे रत्त लागे कापड़ा···। आदि) का कीर्तन, पाठ करते, बोलते-सुनते तो खूब हैं। पर हमारे व्यवहार और हेरा-फेरी पर इसका कोई असर नहीं दीखता। आज हमारी स्थिति तो कुछ उस साधु की तरह हो रही है जिसके सम्बन्ध में सुनाते हैं कि कोई साधु किसी अच्छे-खासे डेरे का महन्त था और उसको दुनियावी चीजें जोड़ने का बड़ा शौक था। वह पढ़ने-लिखने तथा सत्संग-ध्यान से सदा दूर रहता था। उसने अपने इस शौक को खूब पूरा किया। धीरे-धीरे साधु जी बूढ़े होते गए। एक बार वह साधु इतना अधिक बीमार हुआ कि बचने की कोई आशा न रही तथा एक दिन अपने सत्संगियों और चेलों को रोते-बिलखते छोड़कर इस दुनियां से कूच कर गया। उसकी अन्तिम क्रियाओं से निवृत्त होने के बाद बड़े चेले (उत्तराधिकारी) ने डेरे की एक-एक चीज को सम्भालना शुरु किया और सारी चीजें तो मिल गईं, पर गुरु जी के पास जो कुछ तोले शुद्ध सोना था, वह न मिला। सोचते-सोचते ध्यान आया, जिन दिनों गुरु जी बीमार थे, उन दिनों उन्होंने एक बार सुनार को बुलाया था। शायद उससे कुछ पता चल जाए। यह सोच कर उसने एक दिन एकान्त में सुनार से पूछा, उसने कहा—हां उनके पास बहुत बढ़िया सोना था। उन्होंने मेरे से उसकी बहुत छोटी-छोटी डलियां बनवाईं थी। तब सोचने पर ध्यान आया कि गुरु जी अन्तिम दिनों बड़े चाव से शुद्ध देसी घी का हलवा बनवाया करते थे और वे उसको सदा एकान्त में ही खाया करते थे। हो न हो उन्होंने हलवा इसीलिए बनावाया हो कि जिससे इसके साथ सोने के वे छोटे-छोटे टुकड़े आराम से निगले जा सकें। हो सकता है उन्होंने सोचा होगा, यदि

डेरे के मकान, वस्त्र आदि मेरे साथ न भी गये तो कम से कम यह सोना तो इस तरह अवश्य ही साथ चला जायेगा।

यही कुछ स्थिति और व्यवहार हम सब का है। समाचार-पत्रों में आए दिन जो भ्रष्टाचार, गबन की घटनायें छप रही हैं, यदि वे सच हैं तो इनसे यही अवगत होता है कि जिसको कोई कुर्सी या पद किसी प्रकार मिल जाता है तो वह एक ही बार सारी कसर पूरी करने लग जाता है। जनता के वोटों से कुछ समय के लिए चुने जाने वाले प्रतिनिधियों में से बहुत सारे ऐसे हैं या ऐसे थे, जिन्होंने क्या नहीं किया। इनके व्यवहारों से ऐसा प्रतीत होता है कि ये अपने से ऊपर किसी को समझते ही न हों और न हो किसी विधान को अपने लिए मानते हैं, थे। इनके लिए सब कुछ वैध है, था। तभी तो गद्दियों को सदा हथियाये रखने के लिए चुनाव आदि में क्या कुछ नहीं करते। आए दिन कोई न कोई भाण्डा (जांच रिपोर्ट) चौराहे पर फूटता है। यह तो अटल नियम है कि 'अहंकारया सो मारया' पर आज हम सब की प्रायः यही स्थिति है कि 'पल की खबर नहीं—सामान सौ दिन का'। इसीलिए ही वेद ने पहले से ही सावधान करते हुए कहा है—**'अश्वत्थे वो निषदनम्'**=हमारा बसेरा इस चलायमान जगत् में है।

नश्वर देह—

केवल हमारे द्वारा प्रतिदिन बर्ती जाने वाली दुनियावी चीजें ही अस्थिर नहीं हैं, अपितु हमारा यह शरीर, यह देवानां पुरी अयोध्या, जिसको हम सवेरे से शाम तक पालने-पोसने और संवारने में लगे रहते हैं, वह भी नाशवान् है। पता नहीं कब किधर से आंधी का कैसा झोंका आए और यह डण्ठल से अलग हुए पत्त को तरह नीचे पड़ा ही दिखाई दे। तभी तो वेद ने आगे

कहा है—'पर्णे वो वसतिष्कृता'=तुम्हारा पत्ते जैसे पतनशील शरीर में बसेरा है। आए दिन मौत की जो घटनायें सामने आ रही हैं, उनसे तो यही सिद्ध होता है कि इस शरीर का कोई भरोसा नहीं। कब यह जवाब दे जाए। इस धोखे में मत रहना कि मेरे भाग्य में तो इतने दिन जीना लिखा है और मेरी आयु तो अभी केवल इतनी ही हुई है। कोई पता नहीं कब ऐसी घटना घट जाए कि जिसके परिणामस्वरूप यह मिट्टी की काया मिट्टी में मिली हुई मिले। बहुत सारे अपनी लापरवाही, बदपरहेजी, शराब आदि नशों, आहार-विहारों की अनियमितता, बार-बार गलत व्यवहारों के दुष्परिणाम या ठोकर लगने आदि के कारण जान-बूझकर मौत को बुलाने वाले कार्य करते हैं। परस्पर के द्वेष-विरोध से एक दूसरे पर घातक हमले करते हैं। पुनरपि चाहे कहें कि मौत पर किस का वश है। यजुर्वेद ४०, १५ या ईशावास्योपनिषद् में कहा है—वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्। यह आत्मा तो पार्थिव (भौतिक) विकारों से दूर अजर-अमर है, पर शरीर का अन्त भस्म ही है। वह चाहे किसी भी प्रकार की आग से या साधन से हो।

शरीर शब्द का विवेचन करते हुए निरुक्तकार ने लिखा है, कि—शरीरं शृणातेः शम्नातेर्वा २, ५, शृ (हिंसायाम्=मारना, काटना) अर्थात् यह शरीर विनाशशील है, जब कभी जहां कहीं से कट जाता है तथा शमु (उपशमे=ठण्डा होना) अर्थात् न जाने किस घटना के परिणामस्वरूप यह कब ठण्डा हो जाए। आए दिन यही तो देख और सुन रहे हैं कि किसी के हाथ में तराजू या कलम पकड़ा का पकड़ा ही रह गया। आगजनी, यन्त्रों तथा यानों की दुर्घटनाओं और बदले की भावना से होने वाले आक्रमणों, बन्धकों ने तो मौत को खिलौना ही बनाकर रख दिया है।

इस का भाव तो यह हुआ कि आयु निश्चित नहीं है अर्थात् अकाल मृत्यु भी होती है। परन्तु भाग्यवाद के अनुसार तो सब की आयु निश्चित है और कालमृत्यु ही होती है। जिसकी जिस समय जिस स्थान पर जिस रूप में मृत्यु विहित है, उसी रूप में ही उस की मृत्यु होती है।

कालमृत्यु या अकालमृत्यु—

संसार के व्यवहार, जीवन के अनुभव और तर्क-प्रमाण से तो यही सिद्ध होता है कि किसी की आयु निश्चित नहीं है। समय-समय पर होने वाली महामारियों, दैवी प्रकोपों, दुर्घटनाओं और युद्धों-आक्रमणों से भी यही प्रमाणित होता है कि कुछ भी निश्चित नहीं है। जहां ईश्वर के विधान के अनुसार भाग्य को माना जाता है, वहां वेद में एक दो स्थानों पर ही नहीं, अपितु सैकड़ों बार आयु बढ़ाने की प्रार्थनायें की गई हैं[1]। कई स्थलों पर तो प्रार्थनाओं में आयुवर्धक पदार्थों का स्पष्ट संकेत भी है[2]। यदि आयु बढ़ नहीं सकती तो आयु बढ़ाने की प्रार्थनाओं का क्या प्रयोजन? इसी प्रकार अनेक स्थलों पर वेद में बीच की मौत से बचने की प्रार्थना की गई तथा बीच की मौत से बचाने वाले साधनों का भी संकेत किया गया है। आयु के निश्चित होने पर

1- आयुर्मे पाहि य० १४, १७; प्रायुस्तारिष ऋ० १, ३४, ११; य० ३४, ४७; कृणुते दीर्घमायुः य० ३४, ५१; नव्यमायुः प्र सु तिर ऋ १, १० ११; द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ऋ० १, ५३, ११; अस्माकमायुर्वर्धयन् ऋ० ३, ६१, १५; द्रविणोदा रासते दीर्घमायुः ऋ १, ६५, ८।

2- आयुर्यज्ञेन कल्पताम् य० ६, २१; अप्स्वायुः य० १८, ५।

बीच की मृत्यु से बचने की चर्चा[1] निरर्थक सिद्ध होती है।

आयुर्वेदादि के चिकित्सा ग्रन्थों में आयु को बढ़ाने वाले प्रयोगों और औषधों का विस्तार से वर्णन मिलता है। यदि आयु बढ़ नहीं सकती तो इस सारे वर्णन और उपचार का क्या उद्देश्य ? वहां की चर्चाओं से यही सिद्ध होता है कि आयु घटाई-बढ़ाई जा सकती है। इसीलिए ही आयुर्वेद के मान्य आचार्य चरककार ने सोदाहरण लिखा है—

प्रश्न—काल मृत्यु और अकाल मृत्यु कैसे होती है ?

उत्तर—भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश से कहा कि जैसे रथ की धुरी अपनी विशेषताओं से युक्त होती है और वह उत्तम तथा सर्वगुणसम्पन्न होने पर भी चलते-चलते समयानुसार अपनी शक्ति के क्षीण हो जाने से नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार बलवान् मनुष्य के शरीर में आयु स्वभावतः धीरे-धीरे उपभोग में आने पर अपनी शक्ति के क्षीण हो जाने पर नष्ट हो जाती है (इसी का नाम कालमृत्यु है)। जैसे वही धुरी बहुत बोझ लाद देने से, ऊंचे-नीचे मार्ग पर चलने से, पहिए के टूटने से, कील निकल जाने से, तेल न देने से बीच में ही टूट जाती है उसी प्रकार शक्ति से अधिक काम करने से, उचित रूप से भोजन न करने से, हानिकारक भोजन खाने से, इन्द्रियों के असंयम से, कुसंगति से, विष आदि खाने से और अनशन आदि से बीच में ही आयु समाप्त हो जाती है, इसी को अकालमृत्यु कहते हैं। इसी तरह रोगों की ठीक

1- मा न आयुः प्रमोषी य० ४, २३।
मा नो मध्या रीरिषदायुर्गन्तोः य० २५, १२।
अन्तर्मृत्युर्दधतां पर्वतेन य० ३५, १५।
ब्रह्मचर्येण देवा मृत्युमपाघ्नत अ० ११, ५, १९।

चिकित्सा न होने से भी अकाल मृत्यु होती है।"

प्रतिदिन के अनुभवों और प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि अकालमृत्यु होती है। जो कि अपनी और दूसरों की गलतियों या यन्त्रों आदि की खराबी से होती है। जीवन के इतने अनिश्चित और क्षणभंगुर होने पर भी अनेकों इतराते नहीं थकते और न जाने दूसरों के साथ कैसे-कैसे घिनौने शोषण और अन्यायभरे व्यवहार करते नहीं शरमाते। जैसे कि इन्होंने दुनियां में सदा रहने का पट्टा लिखवा रखा हो। ऐसे व्यक्तियों की चेष्टाओं को ध्यान में रखकर ही सम्भवतः यक्ष-युधिष्ठिर के संवाद के रूप में महाभारतकार श्री वेदव्यास जी ने 'किम्-आश्चर्यम्' प्रश्न का उत्तर देते हुए क्या ही मार्मिक कहा है—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यमालयम्।
शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

इस दुनियां में चला-चली[1] का मेला सदा चलता रहता है। ('वारी आपो आपनी, जो आया सो चलसी—गुरुवाणी') परन्तु आश्चर्य तो यह है कि पीछे रहने वाले सदा यहीं रहने की भावना

1- सर्वे क्षयान्ता निचयाः, पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥ (रामायणम्)

क्योंकि जो कुछ भी इकट्ठा हुआ है, वह एक दिन अवश्य ही जाएगा। सारे के सारे ऊंचे ढेर कभी न कभी ढह जायेंगे। जितनी भी जुड़ी हुई वस्तुयें हैं, वे एक दिन अलग-अलग हो जायेंगी और जो पैदा हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्य होगी (मृत्युनैवेदमावृत्तम् बृह० उप० १, २, १; यदिदं सर्वं मृत्युनाप्तम्, सर्वं मृत्युनाभिपन्नम् ३, १, १, यदिदं सर्वं मृत्योरन्नम् ३, २, १)।

जताते हुए प्रतीत होते हैं। जैसे कि उन्होंने सदा यहीं रहना है, परन्तु वास्तविका तो यह है कि अनित्य पदार्थ एक रूप में सदा नहीं रहते।

वस्तुओं के नष्ट होने की भावना हमें सचेत करती है कि वस्तुओं के प्राप्त होने पर वैभव में फूलकर न तो अहंकारी बनें और न ही वस्तुओं के अभावजन्य दुःख में घबराबर आत्महीनता अनुभव करें।

"सुख पाया तो इतरा जाना,
दुःख पाया तो कुम्हाला जाना,
यह ही क्या कोई जीवन है।"

अपितु—

"जिसको तुम जानो यह दुःख है,
सहो उसे धीरज के साथ॥
दुःख में सुख का अनुभव करना,
है मनुष्य के अपने हाथ॥
दुःख तो मनुष्य के जीवन की एक कसौटी है मानो।
इस में जैसा रहे रंग वैसा ही भाव उस का जानो॥"

(श्रीधर पाठक—जगत् सच्चाई सार)

क्योंकि चक्रवत् ये पदार्थ और स्थितियां बदलती रहती हैं[1] छाया और धूप की तरह सुख-दुःख, अमीरी-गरीबी सदा एक जगह टिकी नहीं रहती।

स्वर्ण अवसर—

इसी स्थिति को देखकर ही साधुजन एक व्याख्यान सुनाते हैं कि—एक राजा था, जो जनता की सुख-समृद्धि के लिए या जनता को सुरक्षा, न्याय, समता, स्वतन्त्रता देने के लिए राज्य को नहीं

1- चक्रवत् परिवर्तन्ते सुखानि च दुःखानि च। अहनी चक्रियेव।

समझता था (राजा प्रजा रञ्जनात्)। अपितु उसकी दृष्टि में राजा की सेवा शुश्रूषा, आनन्द, मेले के लिए ही राज्य व्यवस्था होती है। अतः राजा देश का भूपति, नृपति, नरपति है, न कि भूप, भूपाल, नरपाल, जनपालक, सेवक। इसलिए वह कभी भी प्रजा की सुख-समृद्धि और विकास के लिए कोई योजना न बनाता था और न ही उस-उस क्षेत्र के विकास के लिए उस-उस क्षेत्र के विशेषज्ञों की समिति बनाकर उनके निर्णयों के अनुसार कोई काम करने की सोचता था। क्योंकि वह तो ठहरा—राजा परमं दैवतम्। राज्य व्यवस्था कितनी भी अव्यवस्थित क्यों न हो, जनता जान-माल से असुरक्षित होकर कितना भी कष्ट क्यों न भोगे? उसे इसकी कोई परवाह न थी। उसे तो केवल एक ही चिन्ता सवार रहती थी कि किस प्रकार अधिक से अधिक धन-माल इकट्ठा करके अपना मौज मेला मनाया जाए।

एक बार राजा को एक शौक सूझा और उसने हर वर्ष एक व्यक्ति को महामूर्ख की उपाधि से विभूषित करने का निश्चय किया। अतः प्रतीकस्वरूप एक सुन्दर छड़ी तैयार कराई। राजा ने अपने गुप्तचरों को आदेश दिया कि कोई ऐसा व्यक्ति ढूंढा जाए, जो इस दुनियां में रहते हुए भी दुनियां से अनोखा हो। बहुत दिनों की पर्याप्त खोज के बाद राजा के पास आकर एक व्यक्ति ने सन्देश दिया कि महाराज! हम ने आपके आदेश के अनुसार दिन-रात एक करके बहुत ढूंढा, पर आपकी बताई कसौटी के अनुकूल और तो कोई नहीं मिला, हां नगर में प्रातः-प्रातः एक व्यक्ति आता है, जिसने केवल बहुत साधारण से दो वस्त्र पहने होते हैं। वह प्रतिदिन मिलते-जुलते भावों वाले गीत के कुछ बोल-बोलता हुआ गलियों में अलख जगाता है। जिसके एक मुख्य गीत के बोल ये हैं—

ये महल दुहमले यहीं रहेंगे, ना संग तेरे कुछ जाएगा।
मुट्ठी बांध के आया मूर्ख, हाथ पसारे जाएगा।
नेकी-बदी बस तेरा, एक अनमोल खजाना रे।
नादान न कर पापों पे गुजर।
इक रोज यहां से जाना रे॥

न जान कि मेरे पापों पर, कोई देखने वाली नजर नहीं।
इस हत्यारे अन्धकार में, तुझे ही अपनी खबर नहीं।
मालिक की नजरों में मूरख, आसान नहीं छुप जाना रे।
माटी का यह रूप रंग, माटी में मिल जाना रे।
नादान न कर पापों पे गुजर।
इक रोज यहां से जाना रे॥

मिट्टी बन गई तेरो काया, कभी न जिस पर धूल लगी।
पड़ा रह गया पापी तेरा, ये अनमोल खजाना रे।
नादान न इतना सोच सका, इक रोज यहां से जाना रे।
पानी का बुल-बुला तेरी जिन्दगी, संसार मुसाफिरखाना रे।
नादान न कर पापों पे गुजर।
इक रोज यहां से जाना रे॥

छीन के खुशियां मासूमों की, कब तक तू मुस्कराएगा।
सांस बिरानी के बिरते पर, अमर नहीं हो पाएगा।
हत्या चोरी लूट का माल, यहीं सारा लुट जाना रे।
नादान न कर पापों पे गुजर।
इक रोज यहां से जाना रे॥

नागरिकों ने प्रतिदिन निःस्वार्थ भाव से गाने वाले गायक के सादे वेश को देखकर अच्छे से अच्छे कोमती वस्त्र देने का प्रयास किया। परन्तु वह किसी से भी किसी प्रकार का उपहार

नहीं लेता। अनेकों ने अनेकवार अनुनय-विनयपूर्वक भोजन का निमन्त्रण दिया। परन्तु उसने कभी स्वीकार नहीं किया। वह नगर से बाहर निर्जन वन में एक घास-फूस की झोंपड़ी में वर्षों से रह रहा है।

अनेक धनियों ने वन में एक कुटिया बनवा कर देने की इच्छा प्रकट की। कुछ ने पलंग, बिस्तरा देना चाहा, पर उस का एक ही दृढ़ उत्तर रहता। मुझे इन चीजों की बिल्कुल जरूरत नहीं है और फिर कभी भूल कर भी कुछ देने की इच्छा से इधर न आना। उस ने अपनी झोंपड़ी के आस-पास स्वयं मेहनत से कुछ अन्न, फल, सब्जियां बोई हुई हैं। उनका ही केवल आहार करता है। किसी से भोजन तक भी नहीं लेता। अपनी मेहनत का रुखा-सूखा खाकर ही पर-सेवा तथा अपने अध्ययन, मनन, ध्यान और खेती में मस्त रहता है। कभी कभी रास्ते की सफाई करता तथा वहां आस-पास कुछ वृक्ष लगाता दीखता है। पास में ही रास्ता होने के कारण देर-सवेर से आने वाले हर व्यक्ति को यथायोग्य सेवा, शुश्रूषा की सुविधा देता है। हमें तो दुनियां से यही अनोखा दिखाई देता है, जो कि आप की कसौटी पर पूरा उतरता है।

राजा ने एक निश्चित दिन उस व्यक्ति को भरे दरबार में उपाधि और छड़ी से सम्मानित किया। उस दिन के बाद वह व्यक्ति महामूर्ख के नाम से (राजा की ओर से) पुकारा जाने लगा। कुछ समय के पश्चात् अपने असंयम के कारण राजा बहुत अधिक बिमार हो गया। 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः' के अनुसार ज्यों ज्यों इलाज किया गया, पर राजा की हालत बिगड़ती चली गई, स्थिति यहां तक पहुँच गई कि किसी भी स्थिति में

राजा के बचने की आशा न रही। तब जग दिखाई के लिए शिष्टाचारवश लोग राजा को पूछने के लिए विशेष रूप से आने लगे।

राजा की इस बीमारी की सूचना जब महामूर्ख समझे जाने वाले के पास पहुंची तो एक दिन अपनी छड़ी के साथ वह राजा के पास पहुंचा। हाल-चाल पूछने के बाद जब राजा ने कहा—बस अब तो चलने की तैयारी है। उस महामूर्ख समझे जाने वाले ने बड़े भोलेपन के साथ एकान्त देखकर राजा से पूछा—राजन्! जहां आप जा रहे हैं, वहां कितने दिन के लिए जा रहे हैं और वहां से कब लौटेंगे? तथा आप के साथ इन रानियों, सेविकाओं, मन्त्रियों, दरबारियों में से कौन-कौन जा रहा है? राजा ने हंसते हुए कहा, कोई भी नहीं? राजन्! तब तो जहां जाना है, वहां के लिए आप ने सारी तैयारी करा ली होगी? आप तो राजा हैं, आपके पास तो बहुत कुछ है। अतः आपने अच्छे-अच्छे सामान को साथ ले जाने के लिए कई ट्रक सामान लदवा लिया होगा? राजा ने खीझते हुए कहा—इसीलिए तो तुझे महामूर्खता की छड़ी दी गई है। तुझे इतना भी नहीं पता कि वहां तो कुछ भी साथ नहीं जाता। यहां का सब कुछ यहीं रह जाता है। राजा का उत्तर सुनकर महामूर्ख ने और भी अधिक भोलेपन के साथ पूछा, राजन्! इतना तो आप कम से कम बता दीजिए, आप कहां जा रहे हैं? यह तो आप को पता ही होगा और उसके लिए तदनुकूल आपने सारी तैयारी कर ली होगी।

राजा ने एक ठण्डी आह भरते हुए कहा—इसका तो किसी को भी कुछ नहीं पता कि मर कर कोई कहां जाता है? पर दुःख तो यह है कि राजापन के अभिमान में रहने के कारण मैंने तो कभी ऐसा सोचा ही नहीं था, फिर उसकी तैयारी की तो बात ही

क्या ? तब उस महामूर्ख समझे जाने वाले ने आत्मविश्वास के साथ उस महामूर्खता की छड़ी को राजा के हाथ में थमाते हुए कहा—राजन् ! ऐसी स्थिति में आप से बढ़कर कौन महामूर्ख होगा कि जिस को यह भी पता नहीं कहां जाना है ? जब कि ये रानियां, दरबारी, सारा एशो असरत का सामान यहीं रहना है, फिर भी सदा उन्हीं में ही डूबा रहा। हर प्रकार के अच्छे से अच्छे साधन और अवसर प्राप्त करके भी आगे की कोई भी तैयारी न कर सका। तब आप से बढ़कर और कौन महामूर्ख हो सकता है ? इसलिए अपनी इस अमानत को अपने पास ही सम्भालिए। इस के सबसे अच्छे पात्र तो आप ही हैं। जो सब कुछ प्राप्त करके भी अभागा ही बना रहा और अपने आपे के लिए कुछ भी न किया।

प्रिय पाठको ! इस प्रासंगिक अवसर पर क्षण भर के लिए हम भी सोचें कि क्या हम भी कहीं उसी राजा की नकल तो नहीं कर रहे। इसीलिए वेद ने सचेत करते हुए कहा है—गोभाज इत्किलासथ=इस सुन्दर शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अनोखे साधनों को रखने वालो ! क्या इन अनोखे साधनों के सद् उपयोग का भी कभी प्रयास किया है या नहीं ? या केवल सदा स्वार्थ साधने या अभिमान के नशे में ही चूर रहते हो। तभी तो संस्कृत के किसी कवि ने सावधान करते हुए कहा है[1]—

ये हर तरह के धन जमीनों (बैंकों) में, विविध प्रकार के पालतू पशु पशुशालाओं में, प्यारी प्रियतमा पत्नी घर के दरवाजे तक, बन्धु-बान्धव तथा परिचित जन श्मशान तक और यह बड़े

1- धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे, नारी गृहद्वारे सखा श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे, कर्मानुगो गच्छति जीव एषः ॥

चावों से पाला-पोसा शरीर चिता तक ही साथ देता है, आगे तो केवल सीप से निकले मोती की तरह नित्य आत्मा अपनी करनी के साथ ही जाता है[1]।

जीवन का उद्देश्य—

जीवन या जन्म के अनोखे अवसर के उद्देश्य की ओर ध्यान दिलाते हुए मन्त्र ने आगे कहा है—**यत्सनवथ पूरुषम्** कि अधिक से अधिक पूर्णता को प्राप्त करने का प्रयास करो। वस्तुतः जीवन एक नाटक या खेल के समान है। नाटक का पात्र (खिलाड़ी) रोते-हंसते हुए भी भीतर से न रोता है, न हंसता है। वैसे नाटक के पात्र दो तरह के होते हैं। एक तो वे जो केवल गाल बजाते हैं, हाथ मटकाते हैं पर जिनके मन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। उनकी सामान्य मनोवृत्ति दृश्य के साथ तादात्म्य (मेल) नहीं

1- नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ ॥मनु० ४, २४२॥

परलोक में सहायता के लिए न तो माता, पिता, पुत्र, पत्नी सहायक बनते हैं और न ही जाति के लोग। हां केवल (अपनी करनी=) धर्म ही सहायक होकर साथी बनता है।

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ २४३॥

आत्मा अकेला ही पैदा होता और मरता है, अकेला ही अपने अच्छे बुरे (किए) का फल भोगता है।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनु गच्छति ॥२४४।

लकड़ी या मिट्टी के टुकड़े की तरह मृत देह को चिता में छोड़ कर बन्धु-बान्धव घर लौट जाते हैं। अकेला धर्म ही आत्मा का साथ देता है।

बैठाती, अतः वे सफल खिलाड़ी नहीं। सफल खिलाड़ी वही हो सकता है, जिसकी बाह्य (सामान्य) मनोवृत्ति दृश्य के अनुरूप होती है। वह सचमुच रोता है, हंसता है पुनरपि उसके रोने हंसने पर भी उस की आन्तरिक मनोवृत्ति न रोती है न हंसती है। वह केवल इतना विचार करता है कि मेरा खेल अच्छा हो।

खेल में एक अच्छा खिलाड़ी जैसे खेल-खेल के लिए खेलता है। वह अपने साथियों से सहयोग करता है। अपने नायक की आज्ञा का पालन करता है। वह खेलाने वाले के निर्णय का आदर करता है। वह जीतने के लिए अनुचित ढंग नहीं अपनाता, बिना झुँझलाहट के अपनी हार को स्वीकार करता है। इस प्रकार वह हर प्रकार से अच्छे व्यवहार का प्रदर्शन करता है और जीत-हार को शान्ति के साथ सहता है, नियम भंग नहीं करता। खेल को उतने क्षेत्र समय तक समझता है, सदा का नहीं। वैसे ही जीवन को खेल समझ कर, सुख-दुःख को शान्ति के साथ सहना चाहिए और उसे तात्कालिक मानकर, सुख प्राप्ति एवं दुःख निवृत्ति का उपाय करना चाहिए। जीत (सुख) में अहंकार करना तथा अहंकारवश दूसरों पर अत्याचार करना और हार (दुःख) में घबराना या आत्महीनता अनुभव कर अन्याय सहना यह उचित नहीं है।

अतः जीवन को नाटक का खेल समझ कर उसमें हर प्रकार की कुशलता और सफलता प्राप्त करने में ही पूर्णता कही जा सकती है[1]। जब व्यक्ति हर प्रकार के शोषण, अन्याय से मुक्त हो

1- परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
जातस्तु गण्यते सोऽत्र यः स्फुरेच्च श्रियाधिकः ॥ ॥ पंचतन्त्र १, १८ ॥
जातस्य नदीतीरे तस्यापि तृणस्य जन्मसाफल्यम्।
यत्सलिलमज्जनाकुलजनहस्तालम्बनं भवति ॥ पंचतन्त्र १, २९ ॥

कर सुख, शान्ति, आनन्द को प्राप्त करता है, तभी वह कुछ अंशों में अपने आप को पूर्ण एवं तृप्त अनुभव करता है।

मानव जीवन की सफलता का एक सरल साधन है– सेवा। जिसको हर प्रकार का व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुसार अपना सकता है। दूसरों के दुःख में तन-मन-धन और मन-वचन से सहायता करना ही सेवा है, या जिस की जैसी जरूरत है, उस की जरूरत को यथाशक्ति पूर्ण करना भी किसी की सेवा है। दूसरों के कष्ट, क्लेश, दुःख, पीड़ा को दूर करना और आपत्ति में किसी की यथाशक्ति यथायोग्य सहायता करना मानव की शुभकर्म रूपी मूल पूँजी है। इस सेवा से अनेक प्रकार के मेवे (शान्ति, सन्तोष, पुण्य) मिलते हैं। अतः सेवा ही जीवन की सफलता और कृतकृत्यता का सरल, सच्चा साधन है। क्योंकि सेवा किसी के जीवन को सार्थक बनाती है, इसी से जीवन ऊंचा और पवित्र बन सकता है। पर सेवा का रूप तभी चरितार्थ हो सकता है, जब व्यक्ति के दिल में दूसरों, दुखितों, पीडितों के प्रति प्रेम, दया, करुणा, सहिष्णुता और सहयोग की भावना होती है। सेवा करने के लिए व्यक्ति में तप-त्याग, कष्ट सहन और धैर्य चाहिए। ये तीनों (त्याग, कष्ट सहन और धैर्य) जिसमें जितने अधिक होंगे, वह सेवा के क्षेत्र में उतना ही अधिक सफल हो सकता है। सच्चे अर्थों में वही दूसरों का प्रियपात्र होता है। इस का पूर्ण रूप माता में देखा जा सकता है।

इस अनोखे मानव चोले को प्राप्त करके हमें सोचना चाहिए कि हमने सुख प्राप्ति के पथ पर भी कुछ प्रस्थान[1] किया

1- विशेष विवेचन के लिए देखिए—"सुखी कैसे रहें?" का 'सामाजिक कर्तव्य, प्रकरण।

है या हम केवल हेरा-फेरी में ही जीवन की इतिश्री मानकर बैठ गए हैं। वस्तुतः मौत का चक्र हमें सावधान करता है कि जिस उद्देश्य से यह मानव देह मिला है, शीघ्रातिशीघ्र उस लक्ष्य को साधने का प्रयास करें। न जाने किस घटना के कारण कब मौत आजाए और तब हम केवल हाथ मलते ही न रह जायें, कि हमने तो अभी कुछ इसका लाभ ही नहीं उठाया। तभी तो श्री रवीन्द्र नाथ टैगोर ने लिखा है—"मृत्यु की मोहर जीवन सिके को विशेष मूल्य प्रदान करती है, ताकि हम जीवन से वह सब प्राप्त कर सकें, जो कि सचमुच मूल्यवान् है।" मृत्यु को मोहर हमारे जीवन के सिक्के को उसी प्रकार विशेष मूल्य प्रदान करती है जैसे कि डाकखाने की मोहर व्याजार्थ पास-बुक दे दिए जाने पर तदर्थ मिलने वाली चिट को मूल्यवान् बना देती है। इसी भाव को सामने रखकर श्री भर्तृहरि ने कहा है—जब तक शरीर स्वस्थ है, जब तक बुढ़ापा नहीं सताता और इन्द्रियां शक्तियुक्त हैं तथा जीवनचर्या ठीक प्रकार से चल रही है। इन्हीं दिनों विचार-शील को अपनी भलाई और जीवन की पूर्णता के लिए विशेष यत्न करना चाहिए। अन्यथा घर में आग लग जाने पर जैसे कुआं खोदना या खोदने के लिए सामग्री जुटाना बेकार है। ठीक वैसे ही प्राण पंछी के उड़ जाने पर अब गीता और पुराण सुनाने और उसकी पवित्रता, सद्गति के लिए यज्ञ, दान, पुण्य, ब्रह्मभोज का क्या लाभ? दूसरों की सहायता करना अच्छी बात है, पर इनका अनुपस्थित आत्मा की पवित्रता से क्या सम्बन्ध?

1- यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

विद्या के अपार विस्तार[1] की तरह संसार में जीवन के कार्य क्षेत्रों का कोई अन्त नहीं है, परन्तु आयु बहुत थोड़ी और उस पर उसके हड़पने वाले विघ्न पग-पग पर हैं। अतः जैसे हंस फोक को छोड़कर सार को अपनाता है वैसे ही जीवन की सफलता के लिए अपनी रुचि के अनुकूल किसी भी क्षेत्र में कोई साध साधने में जुट जाना चाहिए। अन्यथा 'चिड़ियों ने चुग जब खेत लिया, तो फिर पछताए अब क्या होवत है' के अनुसार यदि समय पर ध्यान न दिया तो बाद में पछताने का क्या लाभ अर्थात् कोई लाभ न होगा। इसीलिए ही सावधान करते हुए विचारकों ने क्या ही मार्मिक विचार दिए हैं—

मृत्यु का ध्यान रखते हुए सदा अच्छाई का आचरण करे[2] क्योंकि सब के शरीर मरणधर्मा हैं, यह धन भी सदा रहने वाला नहीं। यतो हि सब के सिर पर मृत्यु सदा सवार है अतः हमेशा ही अच्छाई में जुटे रहना चाहिए[3]। एतदर्थ होश संभालते ही भले काम शुरु कर देने चाहियें, पता नहीं किस की कब मृत्यु हो जाए, क्योंकि जीवन अनिश्चित है[4]। अतः जो 'पराये उपकार करने में लगे रहते हैं, वे नर-नारी धन्य हैं''—सत्यार्थप्रकाश समु०-३, पृ० ४८। 'सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षणभंगुर जीवन में

1- अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्, स्वल्पं तथायुर्बह्वश्च विघ्नाः।
सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु, हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥
॥ पंचतन्त्र कथामुख १।

2- गृहीत एव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।

3- अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंचयः॥

4- युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम्।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति॥

पराई हानि करके लाभ मे स्वयं रिक्त रहना, अन्य को रखना मनुष्यपन से बहिर् है' —सत्यार्थप्रकाश अनुभूमिका–४।

इसलिए व्यक्ति को ऐसे काम अवश्य करने चाहियें, जिससे याद करने वाले कह सकें कि—

हंस के जिया कोई कोई रोके जिया।
मगर जिन्दगी पाई उसने जो कुछ होके जिया॥

अथवा—

यूं फूल तो गुलशन में खिलते हैं हजारों ही।
हो जिस में भरी खुशबू, मरना तो उसी का है॥

अन्यथा — यह भी क्या कोई जीवन है,
पैदा होना और मर जाना।

अतः जीवन की सार्थकता जीवन को उत्कृष्ट बनाने, पर-उपकार करने, किसी दूसरे के दुःख दूर करने और ईमानदारी से सच्चा-सुच्चा जीवन व्यतीत करने में ही है।

आस्तिकता की दृष्टि से (कुछ अधिक श्रद्धालुओं के शब्दों में) मानव जीवन की सार्थकता, पूर्णता का भाव है, अपनी आत्मा की लौ को उस परमपिता परमेश्वर की लौ के साथ मिलाना। क्योंकि परम ज्योति से ही जीवन ज्योति जगमगाती है (=अग्निना अग्निः समिध्यते ऋ० १, १२, ६) वस्तुतः इस अनोखे मानव चोले को पाने का एकमात्र उद्देश्य—ईश्वर को भक्ति, उपासना, अर्चना पूजा द्वारा ईश्वर के दर्शन, जगदीश्वर की प्राप्ति, मोक्ष, परमधाम की उपलब्धि में ही है[1]। इसी भाव को दर्शाते हुए ही केन उपनिषद्

1- बड़े भाग मानव तन पावा, सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा, पाइ न जेहि परलोक सवारा॥
सो परत्र दुःख पावइ, सिर धुनि-धुनि पछिताई।
कालहि कर्महि ईस्वहिं, मिथ्या दोष लगाइ॥ (रामचरित मानस)

के ऋषि ने कहा है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु, भूतेषु विचिन्त्य धीराः, प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
॥ २, २, ५ ॥

यदि इस मानव चोले को प्राप्त करके मानव जीवन के परम उद्देश्यभूत परमेश्वर के दर्शन पा लिए तो सब कुछ प्राप्त कर लिया। यदि उस के दर्शन प्राप्त नहीं किए, तो तो इस मानव जीवन (चोले) में आकर भी एक बहुत बड़ा घाटे का सौदा किया। अतः अपने चारों ओर फैले हुए इन नालियों और गन्दगियों में सड़ते-बिलखते प्राणियों पर एक नजर डालो, गहराई के साथ कुछ उनके हाल पर विचार करो। इन प्राणियों की करुणाजनक स्थिति को विचारते हुए मानव जीवन के महान् लक्ष्य को साधने का जिसने भी प्रयास किया, वस्तुतः उस ने ही अमरपद प्राप्त कर लिया और उसी का ही मानव जन्म प्राप्त करना सार्थक कहा जा सकता है। इसी भाव को पुष्ट करते हुए गुरु जी ने कहा है—

सभ्भां जिम्रां का इक्को दाता, सो मे विसर न जाइ।
इक्को समरिया नानका, जल-थल रहा समाय।
दूजा क्यों समरिया, जो जम्मे ते मर जाए।
(गुरुवाणी)

दुर्लभ देह पाए मानुष की। (गुरुवाणी)
गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्
(महाभारत शान्ति २९२, २०।)
मानुष्यं सर्वथा तात शोभनम् महा० शा० २९७, ३१।
इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः ॥३२॥ यो दुर्लभतरं मनुष्यं—।३४।
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः, प्राणिनां बुद्धिजीविनः। बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः
मनु० १, ९६।

इसी विषय पर कुछ और अधिक गम्भीरता के साथ जब हम विचार करते हैं, तो हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है कि मानव की बात ही क्या प्रत्येक प्राणी मृत्यु की अपेक्षा जीवन (अमृत) की इच्छा तथा उसकी प्राप्ति के लिए सर्वविध प्रयत्न करता है और यह चाह स्वाभाविक है। इसी भावना को प्रकट करते हुए ही यजुर्वेद में आया है—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥ ३, ६०॥

कल्याणकारक, पोषणकर्ता, सर्वद्रष्टा की हम पूजा आराधना, अर्चना करते हैं। जैसे सुगन्धित, पुष्टिकारक खरबूजा स्वाभाविक रूप से अपने डण्ठल से अलग हो जाता है। ऐसे ही सरलता से हम मृत्यु के बन्धन से मुक्त हों, अमृत को प्राप्त हों (=मृत्योर्माऽमृतं गमय बृ० उ० १, ३, २८)।

वस्तुतः मृत्यु से बचाने के लिए या मृत्यु को दूर करने के लिए ही सब अपने-अपने ढंग से लगे हुए हैं। कृषक, राज, दर्जी, दुकानदार, उद्योगपति, डाक्टर, शिक्षक, राजनीतिज्ञ एवं प्रशासक आदि सारे दुनिया को मौत के मुंह से बचाने के लिए अपने-अपने ढंग से प्रयत्न कर रहे हैं। क्योंकि ये सब अपना-अपना कार्य न करें, तो दुनिया का करोबार ठप्प हो जाए। अतः यह सब कुछ मृत्यु को परे धकेलने के लिए ही हो रहा है। मृत्यु तो अवश्यम्भावी है। इसलिए वह पूरी तरह से हटाई तो नहीं जा सकती, क्योंकि जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः, ध्रुवं जन्म मृतस्य च गीता २, २७= यह एक अटल नियम है। हां वह परे अवश्य धकेली जा सकती है, इसी के प्रयत्न में ही सारा कारोबार हो रहा है और चिकित्सा शास्त्र इसी के लिए हर प्रकार का प्रयास कर रहा है। इसीलिए ही सभी सदा लम्बे जीवन की कामना करते हैं।

दीर्घ आयु की इसी सार्वभौम-सार्वकालिक-सार्वजनिक चाह की ही चर्चा करते हुए यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय (ईशावास्योपनिषद्) में विद्या-अविद्या[1] के प्रसंग में मृत्यु को परे धकेल कर अमृतत्व प्राप्ति की प्रक्रिया और उसका क्रम बताया गया है। आजकल अविद्या शब्द उल्टी विद्या के अर्थ में प्रचलित हो गया है। परन्तु इस प्रकरण में अविद्या शब्द दुनियावी ज्ञान, प्रक्रिया के अर्थ में है, तभी तो यहां कहा है—अविद्यया मृत्युँ तीर्त्वा = अविद्या से मृत्यु को पार करके अर्थात् अविद्या को यहां मृत्यु से

1- अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥१२॥

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः।
इति शुश्रूम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥१३॥

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥१४॥

वे घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं, जो अविद्या की उपासना (का सेवन) करते हैं और वे तो और भी अधिक अन्धकार को प्राप्त होते हैं, जो केवल विद्या की उपासना करते हैं। जिन्होंने इसका हमारे लिए विवेचन किया है, उन धीरजनों से हम इन दोनों का अन्य ही परिणाम सुनते हैं और वह है—जो विद्या और अविद्या को एक साथ (सहयोगी रूप में) जानना। वे अविद्या द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या से अमृत की प्राप्ति करते हैं।

ठीक ऐसा ही वर्णन सम्भूति-असम्भूति का भी वहां पर है। उस वर्णन से विद्या-अविद्या और सम्भूति-असम्भूति (विनाश) दोनों जोड़े परस्पर क्रमशः पर्यायवाची सिद्ध होते हैं। अर्थात् विद्या = सम्भूति, अविद्या = असम्भूति का भी वाचक है।

तारने का साधन बताया गया है। उल्टी विद्या से तो उल्टा मौत और जल्दी आ घेरती है और यह जितना दुनियावी भौतिक विज्ञान का कारोबार है, इसके माध्यम से आज किस प्रकार दुनिया को (अन्न-वस्त्र आदि के) अभाव, दुःख, रोग से होने वाली मृत्यु से बचाया जा रहा है। यह किसी से छिपा हुआ नहीं है। तभी तो आज कृषि विज्ञान ने अधिक अन्न आदि उत्पन्न करके भूख से मरतों को मौत के मुँह से ही बचा लिया है। अतः यहां अविद्या का अर्थ है—भौतिक विज्ञान, दुनियावी कारोबार। जो कि आज के जीवन को बचाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वे सब वेद, उपनिषदों अर्थात् अध्यात्मशास्त्र के शब्दों में अविद्या शब्द से पुकारे जाते हैं।

मुण्डक उपनिषद्[1] में विद्या के दो भेदों को परा और अपरा के नाम से स्मरण किया गया है। यजुर्वेद में इसी को ही विद्या-अविद्या के नाम से कहा गया है। मुण्डक के अनुसार (अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते) विद्या (=परा) शब्द यहां सामान्य अक्षर ज्ञान के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ, अपितु अध्यात्मज्ञान का वाचक है। भारतीय दर्शन आदि शास्त्रों में विद्या=ज्ञान का जो महत्त्व तथा वहां जो उसके विशेषणवाचक शब्द आए हैं, उन से भी यही प्रमाणित होता है[2]। मनुस्मृति में इसीलिए धर्म के दस लक्षणों में विद्या को प्रतिष्ठित स्थान दिया गया है[3]। मनुस्मृति में

1- द्वे विद्ये वेदितव्ये। इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति। परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद...। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।
॥ १, १, ४-५ ॥

2- तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् न्याय-वैशेषिक, ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः, ज्ञानान्मुक्तिः सांख्य ३, २३, विद्या हि का? मुक्तिप्रदा या। (शंकराचार्य)

3- धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ ६, ९२॥

अनेकत्र विद्या शब्द प्रायः अध्यात्मज्ञान के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है[1]। अत एव उसके महत्त्व को बताते हुए कहा गया है—
अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेन आत्मदर्शनम्। याज्ञवल्क्यस्मृति १, ८

योग द्वारा आत्मदर्शन करना परम कर्तव्य (धर्म) है, क्योंकि (यजु० ३१, १८ अनुसार[2]) तभी आत्मज्ञान द्वारा ही व्यक्ति मृत्यु को पार करके अमृतत्व को प्राप्त करता है। मृत्यु से बचने और अमरत्व प्राप्त करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

अतः 'बीती ताहि विसार के आगे की सुध ले' के अनुसार अपने आपे के कल्याण के लिए अब तो अवश्य ही प्रयास प्रारम्भ कर देना चाहिए, फिर न जाने ऐसा अवसर कब मिले।

1- विद्यातपोभ्यां भूतात्मा ५, १०९।
सभी प्राणियों का आत्मा आत्मज्ञान और योगाभ्यास से संस्कृत होता है।

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ १२, ८५ ॥

अन्य सब की अपेक्षा आत्मसम्बन्धी ज्ञान सर्वोत्कृष्ट है और वह ही सारी विद्याओं में प्रमुख है, क्योंकि उसी से ही अमृत की प्राप्ति होती है।

2- वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

आदित्य समान प्रकाशमान् अन्धकार से रहित इस महान् पुरुष को मैंने जान लिया है। उसी को ही जानकर मृत्यु को लांघा जाता है, इस का अन्य कोई मार्ग नहीं।

अमरता की चाह

केवल विचारशील मानव ही नहीं, अपितु प्रत्येक प्राणी लम्बे से लम्बे जीवन की कामना ही नहीं करता, इसके साथ सदा जीने के लिए यथासम्भव हर प्रयास करता है। इसी का दूसरा नाम अमरता है। जिस की प्राप्ति के सम्बन्ध में अनेकों की अनेक कथायें प्रसिद्ध हैं। कई प्रकार के यज्ञों, मन्त्र-जपों, सिद्धियों, तपों, योगों, औषधियों की यत्र-तत्र चर्चा प्राप्त होती है। पर अविनाशी आत्मा को अपने कर्मों के अनुसार जो शरीर मिलता है, जहां वह नाशवान् है वहां उस के कारण रूप कर्म भी सीमित हैं, फिर उन का फल असीमित कैसे हो सकता है।

जब प्रत्येक प्रयास करने पर भी जीने की इच्छा पूर्ण होती हुई दिखाई नहीं देती तो व्यक्ति अपने को अमर रूप में देखने के लिए कुछ क्रियाकलाप करता है। तभी तो विविध वस्तुओं को दान में देता है, भवन बनवाता है, पुस्तकों में चर्चा लाने का प्रयास करता है और नहीं तो पहाड़ों, पत्थरों, ऐतिहासिक शिलाओं, भवनों, वस्तुओं तथा स्मारकों पर भी अपना नाम खोदने की धृष्टता करता है, क्योंकि अपने नाम को अपना आपा समझता है।

सदा न जी सकने की अपनी असमर्थता के कारण अपने प्रतिनिधि के रूप में अपने पुत्र-पौत्रों को विराजमान अनुभव कर अपने आपे को ही उस रूप में जीता हुआ समझता है। अपने आपे का ही दूसरा नाम पुत्र है, क्योंकि जहां वह अपने वंश, धन, सम्पत्ति, का उत्तराधिकारी होता है, वहां उसके शरीर और विचार आदि के रूप में अपना अंश ही होता है। तभी तो कहा[1] है— तू मेरे

1- अंगादंगात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्॥ श० १४, ६, ४, २६॥

अंग-अंग और हृदय से प्रगट हुआ है। इसी अपनेपन एवं आत्मीयता के कारण पुत्र की चाहना वैसी ही स्वाभाविक है, जैसी की जीने की अभिलाषा। क्योंकि उसके रूप में अपना रूप और उसके द्वारा अपने विचारों की पूर्ति होती है। तभी तो शतपथकार ने कहा है[1]—हर एक यह स्वाभाविक रूप हे चाहता है, कि मैं जीऊं, मेरी सन्तान हो, धन सम्पत्तिवाला बनूं। क्योंकि इन इच्छाओं की पूर्ति से ही वह अपने जीवन को पूर्ण समझता है। सन्तान के माध्यम से आगे से आगे अधिक रूप में वह धार्मिक कृत्यों को करने में समर्थ होता है। उनके फल के रूप में तथा पुत्रवान् होने से स्वर्ग को प्राप्त करता है।

इस प्रकार जीवन एक इच्छाओं का समूह तथा उनका मूर्त रूप है। जब कभी कोई व्यक्ति इच्छाओं को प्रकट करता है तो वह कहता है—हे परम ऐश्वर्यवान् परमात्मन् मुझे इन्द्रियों की शक्ति से पूर्ण करो अर्थात् मेरा शरीर स्वस्थ हो। हमारे पास धन-ऐश्वर्य हो, हमारी इच्छायें सत्य हों, पूर्ण हों[2]। व्यक्ति को

1- एषा वा आशीः, जीवेयम्, प्रजा मे स्याच्छ्रियं गच्छेयमिति, श्रीर्हि पशवः। तदेताभ्यामेवैतदाशीर्भ्यां सर्वमाप्तम् शत० १, ८, १, ३६; जीवन् हि पूर्वमिष्ट्वाथापरं यजते १, ८, १, ३० (=जीवन्नरो भद्राणि पश्यति)। यस्य हि प्रजा भवत्यमुं लोकमात्मनैत्यथास्मिंल्लोके प्रजा यजते १, ८, १, ३१ यस्य प्रजा भवत्येक आत्मना भवत्यथोत दशधा प्रजया हविष्क्रियते १, ८, १, ३४।

2- अथ यथाशिषमाशास्ते, तज्जपति:-
मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्।
अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिष इत्याशिषमाशास्ते
शत० ॥ १, ८, १, ४२ ॥

सभी इच्छाओं में से जीने की इच्छा सबसे प्रबल है। उसी के कारण अन्य इच्छायें चरितार्थ होती हैं। जीने की चाहना का ही दूसरा नाम अमरता है। शरीर के मरणधर्मा होने से अपने आपे को अविद्यमानता में अपने नाम अथवा अपने प्रतिनिधि रूप पुत्र-पौत्र के द्वारा इस अमरता की कुछ पूर्ति होती है।

अत: योग्य सन्तान का निर्माण और सत्कर्मों से यश की प्राप्ति में जीवन की सार्थकता है, यही अमरपना है। यही हो किसी व्यक्ति का सच्चा स्मारक है। अत: ऐसे अवसर पर जो जन अपना या अपनों का कोई स्मारक बनाने का विचार रखते हैं। उनके लिए यह एक सन्तोष का आधार है और हर व्यक्ति की अमरता की चाह का सच्चा स्वरूप है।

परिशिष्ट—2

पूर्वजों के स्मारक

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज से ही जीवन तथा विकास के साधन प्राप्त करता है। यदि समाज की प्रथम इकाई परिवार का सहयोग प्राप्त न हो तो व्यक्ति का जीवन सर्वथा ही दूभर हो जाए। उसके पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होने की बात तो दूर रही। समाज में सबसे अधिक सामाजिक सहयोग व्यक्ति को माता-पिता आदि सम्बन्धियों तथा शिक्षक वर्ग एवं मित्रों से प्राप्त होता है। तभी तो शतपथकार की भावना को दर्शाते हुए सत्यार्थप्रकाश में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कहा है—"मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद" अर्थात् जिसको उत्तम माता-पिता और अध्यापक प्राप्त होते हैं, वही पूर्ण पुरुष बनने में समर्थ हो सकता है। अत एव प्रत्येक सर्वदा यही चाहता है कि इन

की छाया(कृपादृष्टि)सदा इसी प्रकार बनी रहे, जिससे वह अपना विकास करने के लिए इनसे पूर्ण सहयोग प्राप्त कर सके। परन्तु प्रकृति के नियमानुसार ईश्वरीय व्यवस्था से अथवा अपनी या दूसरों की गलतियों, नासमझियों, अत्याचारों और अन्यायों से न चाहते हुए भी व्यक्ति को काल का ग्रास बनना पड़ता है। जिसके कारण अन्यों को पारस्परिक सम्बन्ध प्रेम और सहयोग से वंचित तथा असह्य वियोग का दारुण दुःख सहना पड़ता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रति किए गए उपकारों को स्मरण कर तथा अपनी कृतज्ञता को प्रगट करने के लिए किसी न किसी रूप में अपने पूर्वजों के स्मारकों को मूर्त रूप देने का अपनी शक्ति के अनुरूप पूर्ण प्रयास करता है। जिस से पूर्वजों की स्मृति, कीर्ति सदा बनी रहे। और वह अन्यों के लिए प्रेरणा तथा पथ प्रदर्शन का कारण बन सके। प्रायः संसार में सभी प्रकार के विचार वालों में अपनी कृतज्ञता को प्रकट करने के लिए स्मारकों के कई रूप प्रचलित हैं। कुछ अपनों की स्मृति में विविध स्थानों पर मन्दिर, धर्मशाला, स्कूल आदि के भवनों और कुओं का निर्माण करवाते हैं, तो कुछ स्मारक ग्रन्थमाला के रूप में पुस्तकों का प्रकाशन करते हैं। कई दीनों या धर्म संस्थाओं को अन्न, वस्त्र, धन, जल आदि का दान देते हैं तो कई निर्धन छात्रों को छात्रवृत्ति देते हैं। मृतक श्राद्ध के प्रचलन के अनेक कारणों में से एक कारण यह भावना भी है। इसी भावना के परिणामस्वरूप आज अनेक परोपकार के कार्य दृष्टिगोचर होते हैं।

सामाजिक उपयोग और लाभ की दृष्टि से सब का अपना-अपना महत्त्व है। यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो स्मारकों के रूप में ज्ञान प्रसारक वस्तुओं का दान महत्त्वपूर्ण है।

अर्थात् पूर्वजों की पुण्य स्मृति में पुस्तकों का प्रकाशन तथा छात्र-वृत्ति आदि शिक्षा प्रसारक साधनों का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। तभी तो मनुस्मृति में कहा है[1]—संसार में सब प्रकार के दानों में से विद्या या विद्या-सम्बन्धी दान का विशेष महत्त्व है, क्योंकि विद्या द्वारा ही अन्य दातव्य वस्तुओं की प्राप्ति होती है अर्थात् विद्या द्वारा ही अन्न, भवन, वसन, धन आदि दान देने योग्य पदार्थ उत्पन्न और प्राप्त होते हैं। विद्या ही इस का मूल है। विद्या का दान ऐसा है, जैसे किसी को आंख देना। शरीर के अन्य अंगों से मूल्यवान् और उपयोगी है। इसीलिए ही कहा जाता है—'आंखें बड़ी निआमत हैं' तथा शास्त्रकार विद्या की आंख से उपमा देते हैं[2]। अर्थात् ज्ञान को सब की आंख माना गया है और वह जिस के पास नहीं है, वह तो अन्धे के समान है। विद्याविहीन हर समय भयभीत रहता है तथा अपनी पूर्ण प्रगति करने में असमर्थ होता है। वस्तुतः विद्या वही है, जिससे मुक्ति प्राप्त होती है[3] अर्थात् दुःखों, क्लेशों, कष्टों, बन्धनों से छुटकारा मिलता है, जिन से व्यक्ति अनभीष्ट होने के कारण बचना चाहता है। इस परिभाषा के अनुसार विद्या का भाव यहां विशेषरूप से अध्यात्म ज्ञान है। जैसा कि पूर्व दर्शाया जा चुका है।

संसार के विविध क्षेत्रों में जितनी भी आज प्रगति हुई है, उस प्रगति का सबसे अधिक श्रेय ज्ञान, विद्या, शास्त्र, साहित्य को ही दिया जा सकता है। विद्या सब विकासों की जड़ है। अन्य दान देने योग्य पदार्थों की अपेक्षा विद्या सब से अधिक चिरस्थायी,

---

1- सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते। ४, २३३;
2- सर्वस्य लोचनं शास्त्रम्, यस्य नास्ति अन्ध एव स।
3- विद्या हि का ? मुक्तिप्रदा या (आचार्य शंकरकृत प्रश्नोत्तरी)

महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है। इसीलिए भारतीय साहित्य और समाज में विद्यादान के कारण ही गुरु तथा ब्राह्मण को विशेष प्रतिष्ठित स्थान दिया गया है। जिन व्यक्तियों, जातियों, राष्ट्रों के पास विद्या जैसी अनमोल निधि होती है, वही सब से अधिक विकसित, समृद्ध, सुखी, सभ्य और अमर होते हैं। किसी की अमरता का रहस्य उसके साहित्य में ही छिपा हुआ है। इसीलिए ही कभी बड़े सम्मान के साथ गाया जाता था—

सारे जहां से अच्छा, हिन्दोस्तां हमारा,
यूनान मिश्र रोमां सब मिट गए जहां से।
अब तक मगर है बाकी नामो निशां हमारा,
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जमां हमारा॥

जब कि मिश्र आदि सब देशों में उन-उनके वंशज विद्यमान हैं। तब इन शब्दों का क्या भाव है? ऐसी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती, कि उन देशों के वासियों का किसी कारण से एक साथ नाश हो गया तथा यह इतिहास और वास्तविकता से विपरीत है। विचार करने पर इसका यही रहस्य अवगत होता है कि यह तो ठीक है कि भारतीयों की तरह उन की नसों में भी पूर्वजों का खून दौड़ रहा है। परन्तु पूर्वजों की भावनायें, विचार और साहित्य उन के पास न होने से वे अपने पूर्वजों से दूर हो गए हैं। हां! भारतीयों के पास आज भी अपने पूर्वजों की पवित्र धरोहर, विचारधारा भारतीय साहित्य के रूप में सुरक्षित और विकसित है। किसी व्यक्ति या जाति को अमर बनाने वाला अथवा अपने पूर्वजों मे सीधा सम्पर्क स्थापित करने का केवल और केवल साधन साहित्य ही है। अतः पूर्वजों का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्मारक साहित्य का प्रकाशन ही है। पूर्वजों से सम्बन्धित और उन का

अपूर्ण →